❀ श्रीः ❀

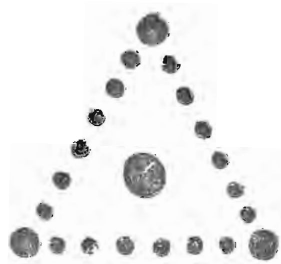
श्रीमदमृतग्रन्थमाला का दसवां पुष्प

श्रीसिद्धमहारहस्यम्

तथा

श्रीदेशिकदर्शनम्

(हिन्दी टीका सहितम्)



श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यकृतम्

विद्वद्वरकलास्थानं श्रीपीठं पण्डितप्रियम् ।
अमृतां वाग्भव भूयात् पुरुषार्थप्रसिद्धये ॥

श्रीपीठ शोध-संस्थान, जम्मू ।

❀ श्रीः ❀

श्रीसिद्धमहारहस्यम्

तथा

श्री देशिकदर्शनम्

(हिन्दी टीका सहितम्)

ग्रन्थप्रणेता—
सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-महामहिम-आचार्य
श्रीमदमृतवाग्भव जी महाराज

अनुवादक :
बलजिन्नाथ पण्डित, शास्त्री, एम. ए., पी. एच. डी.

प्रकाशक :
श्रीपीठ सैद्ध-दर्शन शोध-संस्थान, जम्मू ।

प्रकाशक—श्रीपीठ, सैद्धदर्शन शोध संस्थान, जम्मू।

प्रथम संस्करण—२०४० विक्रमी (१९८३ ई०)
१००० प्रतियां।

मूल्य—१० रुपये।

मुद्रक—एस. एन. मगोत्रा प्रिंटिंग प्रैस, जम्मू।

सम्मतिः

महामहोपाध्याय-गोपीनाथ-कविराज २ (ए) सिगरा, वाराणसी
एम. ए., डी. लिट., पद्मविभूषण दिनांक ३०-३-१९६५

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः प्रसिद्धवैदुष्य आचार्यः श्रीमान् अमृतवाग्भवनामा सिद्धमहारहस्याख्यया पद्यात्मकं किमपि लघुकायमेकं पुस्तकं निर्माय अनिच्छन्नपि गुरुनिर्देशात् प्राकाश्यं नीतवान् ।

पुस्तकमिदं पत्रसंख्यया लघीयस्तया प्रतीयमानमपि महार्घ्यरत्नोपमगुह्यतत्त्वगर्भत्वाद् गरीय एव मे प्रतिभाति ।

अद्यत्वे विश्रुतकीर्तिराचार्योऽयं कदाचित् कैशोरान्ते यौवनोन्मेषवयसि पाठशालासम्बन्धेन मदीयं वात्सल्यभाजनमासीदिति तथैवाद्यापि भूयो भूयस्तं स्मरामि । षट्त्रिंशद्वर्षेभ्योऽप्यधिककालं यावत् तस्य देशान्तरावस्थानवशाद् दर्शनाभावेऽपि तदीया स्मृतिर्मदीये चित्तदर्पणे पूर्ववदेव समुज्ज्वला भाति । महत्यस्मिन्नन्तरे स्वाचरिततपःप्रभावाद् वा, स्वीयप्राक्तनशुभकर्मपरिपाकाद् वा, अचिन्त्याहैतुकभगवदनुग्रहबलाद् वा तस्य जीवने महती समुन्नतिः सञ्जाता । नैषा लौकिकी काचित् प्रतिष्ठा, न वा विद्वद्गोष्ठीषु कोऽपि समादरः, परं तु स्वात्मस्वरूपस्याभिन्नशिवशक्तिरूपस्य निरावरणप्रकाशमार्गे काप्यनिर्वचनीया प्रगतिः ।

रहस्यग्रन्थावलोकनतो ज्ञायते—कलियुगस्य सर्वादितन्त्रोपदेशकेन अनसूयागर्भसम्भूतेन क्रोधभट्टारकसंज्ञकेन भगवता श्रीदुर्वाससा मुनिना प्रत्यक्षमाविर्भूय तस्मै पूर्णयोगस्य उपदेशः प्रदत्तः। इममेव योगमवलम्ब्य सर्वेषां योगानां पूर्णत्वं सम्पद्यते। प्राप्तोपदेशः स ततः प्रभृति दीर्घकालपर्यन्तं नैरन्तर्येण सत्कारेण च पूर्णाहम्भावमाश्रित्य तं योग सेवमान आसीत्। तदानीमन्तरान्तरा तेन बहूनि दिव्यदर्शनानि लब्धानि। यस्मिन् देशे काले च यद् दर्शनं जातं तस्य समुल्लेखः स्पष्टरूपेण विहितः। सर्वमिदं सुगोप्यमपि भगवदाज्ञया जीवकल्याणमभिसन्धायैव संक्षेपेण प्रकाशितम्। अस्मात् शक्तिपातपूतसाधकानां महानुपकारः सम्भवेदिति मदीयो विश्वासः।

ग्रन्थकृताप्युक्तम्—

श्रीसम्प्रदायोक्तनयक्रमेण सारल्यचेतोहरमात्मशम्भोः।
ये प्रत्यभिज्ञारसमाप्तुकामास्ते ग्रन्थमेनं परिशीलयन्तु॥

ग्रन्थकारः श्रीविश्वेश्वरकृपया स्वस्थकायः स्वच्छन्दः चिरं जीवन् योग्यशिष्येभ्यः सदुपदेशप्रदानेन लोककल्याणं विदधातु।

गोपीनाथ-कविराजः

सम्मतिः

(हिन्दी अनुवाद में)

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज   २ (ए) सिगरा, वाराणसी
एम. ए, डी लिट., पद्मविभूषण   दिनांक ३०-३-१९६५

समस्त तन्त्रों में स्वतन्त्र, वैदुष्य में सुप्रसिद्ध, श्रीमान् अमृतवाग्भव नाम के आचार्य ने सिद्धमहारहस्य नाम से एक लघुकाय पद्यात्मक पुस्तक का निर्माण करके न चाहते हुए भी गुरु के कहने से उसे प्रकाशित कर दिया।

यह पुस्तक यद्यपि पृष्ठ संख्या में बहुत छोटी सी प्रतीत होती है, तथापि इसके भीतर बहुमूल्य रत्नों के जैसे रहस्यमय तत्त्व भरे पड़े हैं, इस कारण से मुझे बहुत ही गौरवयुक्त प्रतीत हो रही है।

आजकल सुप्रसिद्ध कीर्ति वाले होते हुए ये आचार्य कभी बाल्यकाल के अन्त की और यौवन के आरम्भ की आयु में विद्यालय के सम्बन्ध से मेरे वात्सल्य के पात्र बने रहे। अतः अब भी मुझे बार-बार उसी रूप में इनकी स्मृति होती रहती है। छत्तीस वर्षों से भी अधिक समय तक इनके अन्य देशों में

ठहरने के कारण दर्शन के न होने पर भी इनकी स्मृति मेरे चित्तदर्पण में पहले ही की तरह समुज्ज्वलता से चमक रही है। इस बीच के काफी समय में या तो स्वयं किए हुए तप के प्रभाव से, अथवा अपने पूर्व जन्मों में किए हुए शुभ कर्मों के परिपाक से, अथवा भगवान के अचिन्त्य और अहेतुक अनुग्रह के बल से इनके जीवन में बहुत बड़ी प्रगति हुई। वह प्रगति कोई सांसारिक प्रतिष्ठा नहीं है, न हो विद्वत् समाजों में प्राप्त हुआ कोई बड़ा सम्मान है, अपितु अपने वास्तविक स्वरूपभूत, शिव और शक्ति के परस्पर अभिन्नरूपी निरावरण प्रकाश के मार्ग में कोई अनिर्वचनीय प्रगति है।

रहस्यमय ग्रन्थ के अवलोकन से यह विदित होता है कि कलियुग में सब से पहले तन्त्रों का उपदेश करने वाले, अनसूया के गर्भ से उत्पन्न हुए, क्रोधभट्टारक नाम के भगवान् दुर्वासा मुनि ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर इन्हें पूर्ण योग का उपदेश दे दिया। उसी योग का आसरा लेकर के ही सभी अन्य योग पूर्णता को प्राप्त होते हैं। उपदेश को प्राप्त करके इन्होंने तब से दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार-पूर्वक परिपूर्ण अहम्भाव का आश्रय लेते हुए उस योग का अभ्यास किया। तब बीच-बीच में इन्हें बहुत से दिव्य दर्शन प्राप्त हुए। जिस देश में और जिस काल में जो दर्शन हुआ उसका स्पष्ट उल्लेख इन्होंने किया है। यह सब कुछ यद्यपि अति गोपनीय है, फिर भी भगवान के आदेश से जीवों के कल्याण के उद्देश से ही संक्षेप से प्रकट किया गया है। इससे भगवान

के शक्तिपात से पवित्र बने हुए साधकों का बहुत उपकार हो सकता है, ऐसा मुझे विश्वास है।

ग्रन्थकार ने भी कहा है—

जो महानुभाव श्रीविद्या के सम्प्रदाय को नीति के अनुसार शिवस्वरूप अपने आपकी प्रत्यभिज्ञा के आनन्द को प्राप्त करना चाहते हों, वे इस ग्रन्थ का अभ्यास करें, जो अपनी सरलता से साधकों के हृदय को आकर्षित करता है।

ग्रन्थकार विश्वेश्वर की कृपा से स्वस्थ शरीर से स्वतन्त्रतापूर्वक चिर काल तक जीवित रहते हुए योग्य शिष्यों को सच्चा उपदेश देने से लोक कल्याण करते रहें।

गोपीनाथ कविराज

अनुवादक — बलजिन्नाथ पण्डित।

सम्मति

पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय की

(ग्रन्थ के अनुवाद के विषय में)

दिल्ली श्री: ५/४/६८

श्री बलजिन्नाथ पण्डित जी !

जय शंकर, सर्वत्र कुशलमस्तु। आत्मविलास टीका प्रथम भाग मिल गया, साथ हिन्दी "सिद्धमहारहस्यम्" भी । बहुत उत्तम है। देखें अब कब मुद्रित होकर लोगों के सम्मुख आता है। आपने परिश्रम बहुत स्तुत्य किया है। यदि सर्दी में आप यहां आये होते तो प्रेस कापी भी बन जाती। अस्तु।

....

....

....

आपका—"श्री"

(पूज्यपाद आचार्य महोदय के द्वारा लिखे गए पोस्ट कार्ड से उद्धृत)

प्रास्ताविक

दर्शन मूलतः आत्मसाक्षात्कार को कहते हैं । उस साक्षात्कार के पुन: पुन: अभ्यास से आत्मा के स्वरूप और स्वभाव के विषय में अभ्यासी महानुभाव की बुद्धि के क्षेत्र में कोई विशेष धारणाएं अङ्कित हो जाती हैं जिनके अनुसार वह आत्मा के विषय में मौखिक और लेख-बद्ध उपदेश करने लगता है। लोक व्यवहार में अनुभवी महापुरुषों के ऐसे उपदेश ही मुख्यतया दर्शन कहलाते हैं। उन उपदेशों के आधार पर विद्वानों के द्वारा लिखे हुए ग्रन्थ भी दर्शन विद्या में गिने जाते हैं।

आत्मा का स्वरूप और उसका स्वभाव दोनों ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या में भिन्न भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त होते हैं। उनकी ऐसी भिन्न भिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियों की अनुभूतियां अनेकों अनुभवी महापुरुषों को हुआ करती हैं। इस कारण से उनकी अनुभूतियां प्राय: एक जैसी नहीं होती हैं। अत: उनके उपदेश भी प्राय: भिन्न-भिन्न प्रकार के ही हुआ करते हैं। फिर उपदेशों और लेखों की योग्यता एक ओर से उपदेशकों की बुद्धि की तीव्रता पर और वाणी के ऊपर उनकी प्रभुता पर तथा दूसरी ओर से उपदेशों का माध्यम बनने

वाली भाषा की योग्यता पर भी पर्याप्त मात्रा में निर्भर रहती है। अतः मूलतः वही दर्शन उत्कृष्ट स्तर का होता है जिसके सिद्धान्तों का साक्षात्कार तुर्या दशा की अनुभूति से सम्पन्न किसी सिद्ध योगी को हुआ हो। फिर तुर्या दशा के भीतर भी अनेकों ऊंचे-ऊंचे और निचले-निचले अवान्तर स्तर हुआ करते हैं। अतः तुर्या के सभी दर्शन एक जैसे नहीं होते हैं। तुर्या के स्तरों में कहीं भेदभाव का, कहीं भेदाभेद का और कही सर्वथा अभेद का दर्शन होता है। अतः तुर्या दशा में ठहरे हुए सिद्ध योगियों में से भी उन्हीं सिद्धों का दर्शन सर्वोत्कृष्ट होता है जिन्हें तुर्या के उच्चतम स्तर की अनुभूति हुआ करती हो। ऐसे सिद्ध योगियों में से भी उसी महानुभाव का उपदेशात्मक दर्शन सर्वोत्तम होता है जिसकी बुद्धि भी अतितीव्र हो और जिसे वाणी पर भी पूरा अधिकार हो तथा जिसकी भाषा सूक्ष्मतर विचारों को भी योग्यता-पूर्वक स्पष्टतया अभिव्यक्त कर सके।

इस प्रकार के उत्कृष्टतर दर्शन को सैद्ध-दर्शन कहा जा सकता है। स्वतन्त्रानन्द नाथ नामक सिद्ध ने अपने मातृका-चक्रविवेक में अपने दर्शन को "मतं हि सैद्धम्" ऐसा कहा भी है। प्रकृत शास्त्र, सिद्धमहारहस्य, भी एक सैद्ध दर्शन शास्त्र है। इस शास्त्र के निर्माता आचार्य श्रीमद् अमृतवाग्भव जी महा-मुनि दुर्वासा के शिष्य हैं और महामुनि जो सैद्धदर्शन के एक पुरातन गुरु हैं। आचार्य महोदय ने वाराणसी में समस्त शास्त्रों का सफल अध्ययन किया। वे समस्त शास्त्रों के तत्त्वों

को जानने वाले एक मर्मज्ञ विद्वान बने । भगवान् दुर्वासा के द्वारा सिखाई हुई शाम्भवी योग-विद्या के सफल अभ्यास से उन्हें सैद्धदर्शन के अन्तरतम सिद्धान्तों की साक्षात् अनुभूति पर्याप्त मात्रा में हुई और एक योग्य वैयाकरण होने के नाते संस्कृत भाषा पर उन्हें पूरा अधिकार प्राप्त हुआ । फिर संस्कृत भाषा ही एक-मात्र ऐसी भाषा है जिसमें सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर अध्यात्मदर्शन के सूक्ष्माति-सूक्ष्म विचारों को भी स्पष्टतया अभिव्यक्त किया जा सकता है । लोकोपकार के लिए उन्होंने कई एक दर्शन शास्त्रों का निर्माण किया । उन्हीं में से एक उत्कृष्ट शास्त्र यह सिद्धमहारहस्य है । उनके अन्य उत्कृष्ट दर्शन शास्त्र हैं—(१) श्री आत्मविलास जो हिन्दी व्याख्या के समेत दो बार प्रकाशित हुआ है । (२) श्रीविंशतिका शास्त्र । यह भी प्रकाशित हो चुका है और इस पर दो संस्कृत टीकाएं भी छपी हैं और एक हिन्दी व्याख्या भी । (३) महानुभव-शक्ति स्तोत्र । यह एक दार्शनिक स्तोत्र है जो हिन्दी संस्कृत टीकाओं समेत छपा है । श्री आत्मविलास पर और श्री सिद्ध-महारहस्य पर विस्तृत संस्कृत व्याख्याएं भी लिखी गई हैं परन्तु उनका प्रकाशन अभी नहीं हुआ है ।

आचार्य महोदय ने और भी अनेकों विषयों पर अनेकों ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से कई एक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । प्रकाशित ग्रन्थों में से कुछ एक ये हैं—(१) सप्तपदी-हृदयम्, (२) परशुरामस्तोत्रम्, (३) श्रीराष्ट्रालोकः, (४) श्रीमदमृतसूक्तिपञ्चाशिका, (५) सञ्जीवनीदर्शनम्, (६) श्री-

संक्रान्तिपञ्चदशी । (७) श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम् । उनके अमुद्रित ग्रन्थों में से उत्कृष्ट ग्रन्थ ये हैं—

(१) राष्ट्रसञ्जीवन संस्कृत भाष्यम् (राष्ट्रालोक पर). (२) श्रीस्वाध्यायमहिमस्तोत्रम, (३) श्रीवरकलवंशवर्णन-काव्यम्, (४) परमशिवस्तोत्रम इत्यादि ।

आचार्य महोदय का जन्म प्रयाग में १९६० वि० में हुआ। पैतृक निवासस्थान इनका वाराणसी में था । इनके पूर्वज विदर्भ देश के महाराष्ट्री ब्राह्मण थे जो कई एक शताब्दियों से वाराणसी में रहा करते थे । इन्होंने उच्च शिक्षा वाराणसी में प्राप्त की और व्याकरण शास्त्र का विशेष अध्ययन किया । पूरे यौवन में वाराणसी को छोड़ दिया और परिव्राजक के रूप में विशेषतया पश्चिमोत्तरी भारत में घूमते रहे । ऊपरोक्त ग्रन्थों में से केवल परमशिवस्तोत्र का निर्माण उन्होंने वाराणसी में किया। शेष सभी ग्रन्थ परिव्राजक अवस्था में ही लिखे । २०३९ वि० में भौतिक शरीर को छोड़ कर शिवलोक के प्रति उत्क्रमण कर गए ।

अनेकों वर्ष इनके द्वारा स्थापित श्रीस्वाध्यायसदन, सोलन से "श्रीस्वाध्याय" नामक मासिक पत्रिका चलती रही। इनके ही द्वारा स्थापित 'श्रीपीठ' ने अभी तक (१) श्रीमदमृत-सूक्तिपञ्चाशिका, (२) श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्र-अनुवाद और (३) श्री आत्मविलास सुन्दरी का प्रकाशन किया। प्रकृत ग्रन्थ श्रीपीठ का चतुर्थ प्रकाशन है। इसके अनन्तर परमशिवस्तोत्र

का प्रकाशन इस संस्था के द्वारा होगा । आचार्य महोदय के द्वारा स्थापित–श्री अमृतवाग्भव शोध संस्थान, जयपुर और विद्वद्वरकल श्रीराधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली भी कुछ काम करने की योजना बना रहे हैं ।

सैद्ध दर्शन के सामने सभी अन्य दर्शन निचले स्तर के दर्शन हैं। सैद्ध दर्शन ही एकमात्र परिपूर्ण दर्शन है । उपनिषदों के अनेकों ऋषियों को सैद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का साक्षात्कार हुआ था। भगवान् श्रीकृष्ण सैद्ध दर्शन के उपासक भी थे और गुरु भी। उन्हें यह विद्या भगवान् दुर्वासा से मिली थी। इस विद्या के प्राचीन गुरुओं में से अगस्त्यमुनि, लोपामुद्रा, दत्तात्रेय, दुर्वासा और परशुराम विशेषतया प्रसिद्ध हैं। शैव सिद्धान्त के आगमों के ऋषियों को भी इस विद्या का ज्ञान था। भैरव आगमों के ऋषि इस विद्या के विशेषज्ञ थे। त्रिक आगमों के ऋषि तो इस विद्या के पारङ्गत गुरु थे। अर्वाचीन युग में इस सैद्ध दर्शन की विद्या का विशेष विकास कश्मीर मण्डल में हुआ। वहां नववीं शताब्दी में इस विद्या के साधना क्रम का विशेष प्रचार और प्रसार आ० वसुगुप्त ने किया। इस क्रम में सब से अधिक विख्यात गुरु भट्ट कल्लट हुए। सैद्ध दर्शन की विद्या के तर्कप्रधान सिद्धान्तपक्ष का निर्माण भी नवम शताब्दी में ही हुआ। उसके आदिनिर्माता आ० सोमानन्द थे जिन्होंने शिवदृष्टि आदि ग्रन्थों का निर्माण किया। इस दर्शन के सिद्धान्तपक्ष के विकास में आ० उत्पलदेव ने कई एक ग्रन्थ लिख कर विशेष काम किया।

दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों के बीच में आ० अभिनवगुप्त प्रकट हुए जिन्होंने सैद्धदर्शन के इन दोनों ही पक्षों को परिपूर्ण विकास की दशा पर पहुंचा दिया। कश्मीर से बाहिर के आचार्यों में इस पर काम करने वालों में चोलदेश के महेश्वरानन्द नाथ का विशेष महत्त्व है। उन्होंने महार्थमञ्जरी-परिमल का निर्माण किया। अन्य ऐसे गुरुओं में से जालन्धर-पीठ (कांगड़ा) के श्रीशम्भुनाथ का विशेष महत्त्व है। सम्भवत: क्रमस्तोत्र आदि ग्रन्थों के निर्माता श्री सिद्धनाथ ये शम्भुनाथ ही हैं जिनके प्रति आ० अभिनवगुप्त ने अनेकों वार वड़ा ही आभार प्रकट किया है।

जितने भी द्वैत प्रधान दर्शन हैं उनमें या तो प्रमेय तत्त्व की या प्रमाणतत्त्व की विशेषताओं का विश्लेषण मिलता है। प्रमातृतत्त्व की विशेषताओं का दिग्दर्शनमात्र अद्वैत वेदान्त में मिलता है। परन्तु उस शास्त्र का अद्वैत पारमार्थिक अद्वैत नही है, क्योंकि वहां जगत की उपपत्ति लगाने के लिए ब्रह्म से भिन्न अनादि अविद्या को भी मानना पड़ता है। फिर उस शास्त्र के ब्रह्म में ईश्वरता कोई अपनी सच्ची विशेषता नहीं, अपितु माया के द्वारा ठहराई हुई झूठी विशेषता है। अत: अद्वैत वेदान्त परमार्थतया पूरा आस्तिक दर्शन नहीं है। सिद्धों की दृष्टि में परमेश्वरता अद्वैत परब्रह्म का अपना स्वभाव है तथा माया, अविद्या, विद्या आदि पदार्थ उसकी अपनी लीलामयी सृष्टि के फल हैं। इस प्रकार से सैद्धदर्शन ही वास्तविक अद्वैत दर्शन और उत्कृष्टतर आस्तिकदर्शन है; उस दर्शन

की ऐसी विशेषताओं पर आचार्य महोदय के आत्म-विलास में पर्याप्त मात्रा में प्रकाश डाला गया है । प्रकृत ग्रन्थ सिद्ध-महारहस्य तो आरम्भ से ही लगातार इन विशेषताओं पर बल देता है ।

सिद्धमहारहस्यम् इस तरह से एक परम-अद्वैत दर्शन है और साथ ही साथ एक परम आस्तिक दर्शन है । सैद्धदर्शन के समस्त प्राचीन ग्रन्थों के साथ इसकी एकवाक्यता है । इसमें शैव दर्शन और शाक्तदर्शन का परिपूर्ण सामञ्जस्य विद्यमान है । इसके द्वारा सैद्ध दर्शन के प्रयोग पक्ष और सिद्धान्त पक्ष दोनों ही के प्रमुख विषयों पर प्रकाश पड़ता है । इसमें कई एक नवीन दार्शनिक विचार विद्यमान हैं । इस शास्त्र के द्वारा और आत्मविलास तथा विंशतिकाशास्त्र के द्वारा आचार्य अमृतवाग्भव जी ने एक नवीन ढङ्ग के ऐसे शैव शास्त्र को चलाया है जिसमें प्राचीन सिद्धान्त तो सब विद्यमान हैं ही और साथ कई एक नवीन सिद्धान्तों को भी स्थान दिया गया है । इसे एक प्रकार का Neo Saivism कहें तो अनुचित नहीं होगा । उदाहरण के तौर पर शाक सिद्धान्त एक ऐसा अभिनव सिद्धान्त है ।

—बलजिन्नाथपण्डितः

प्राक्कथन

सिद्धमहारहस्यम् के प्रकाशित होने से पहले आचार्य महोदय ने इसकी एक पाण्डुलिपि मुझे भेज दी थी। मैंने उस पर एक विस्तृत संस्कृत व्याख्या वि. स. १९२२ में लिखी। तदनन्तर आचार्य महोदय के आदेश के अनुसार इस शास्त्र का एक हिन्दी अनुवाद भी लिख कर उन्हें भेजा। उन्होंने उसे पसन्द भी किया और प्रकाशित भी करवाना चाहा। शीघ्र प्रकाशन नहीं हो सका और समय के बीत जाने पर उस बात को वे भी भूल गए और मैं भी भूल गया। गत अक्तूबर १९८२ को जब मैं उनके दर्शन करने दिल्ली गया तो उन्होंने मुझे इस शास्त्र के हिन्दी अनुवाद को शीघ्र तैयार करके प्रकाशित करने का आदेश दिया। मैं भी इस काम को कर देने के लिए समय निकालने की बात पर तब से विचार करता रहा।

गत जनवरी १९८३ में मुझे पूज्यपाद जी का अपने हाथ से लिखा हुआ एक पत्र मिला जो उन्होंने ५-४-१९६८ ई० को दिल्ली से लिखा था। उसमें यह लिखा था कि श्रीसिद्ध-महारहस्यम् का हिन्दी अनुवाद उन्हें मिल गया, उन्होंने उसे

पढ़ा और पसन्द भी किया । तभी से मैंने दिल्ली, जयपुर और भरतपुर उसकी पाण्डुलिपि की खोज के लिए पत्र व्यवहार आरम्भ किया । सौभाग्य से दिल्ली में श्री रत्न-लाल जी को पूज्यपाद श्रीजी की लेख सामग्री के भीतर वह पाण्डुलिपि भी मिल गई । उसी महीने के अन्त पर जब मैं दिल्ली गया तो वहां से उसे इधर ले आया । यहां लाकर उसकी प्रेस कापी को तैयार किया । फिर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि अनुवाद मात्र से सभी जिज्ञासुओं को सन्तोष नहीं हो सकेगा । अतः कहीं कहीं दर्शन रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए थोड़ी थोड़ी व्याख्या भी लिख दी ।

गत अक्तूबर मास में ही श्री पूज्यपाद जी ने अपनी इष्ट देवी के दर्शन की जो घटना मुझे सुना दी उसके अनुसार मैंने उनकी ही ओर से एक खिल प्रकरण का निर्माण करके उसे इस ग्रन्थ के अन्त पर जोड़ दिया । उसमें श्री आचार्य महोदय के इस जीवन में प्राप्त हुए अन्तिम दिव्यदर्शन का वर्णन उनकी ही लेखन शैली के अनुसार किया गया है ।

इस ग्रन्थ रत्न को सभी जिज्ञासु भक्तों के हित के लिए श्रीपीठ की ओर से प्रकाशित किया जा रहा है ।

आचार्य महोदय को वि० सं० १९७६ में वाराणसी में, अपने घर में ही भगवान् दुर्वासा ने साक्षात् दर्शन देकर शाम्भव योग की दीक्षा दे दी । उसी योग-दीक्षा से उन्हें आत्म साक्षात्कार हुआ और स्थान-स्थान पर अनेकों देवताओं

के साक्षात् दर्शन प्राप्त हुए । यह बात उन्होंने श्री सिद्ध-महारहस्यम् में स्पष्ट कह दी है । ई० सन् १९६२ में जब वे कुलगाम (कश्मीर) में हमारे घर में ठहरे थे तब उन्होंने मेरी प्रार्थना पर भगवान् दुर्वासा मुनीश्वर का एक साङ्गोपाङ्ग विस्तृत वर्णन श्लोकों में लिख डाला । उसका शीर्षक रखा गया ''देशिकदर्शनम्'' । श्रीसिद्धमहारहस्यम् में अनेकों दिव्य-दर्शनों का विस्तृत वर्णन मिलता है, परन्तु भगवान् दुर्वासा के दर्शन का उल्लेख मात्र ही आया है । अतः उस विस्तृत "देशिकदर्शनम्" नामक पुस्तिका को भी हिन्दी अनुवाद के समेत इस ग्रन्थ के साथ ही इसके अन्तिम भाग के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है ।

जम्मू
२८-३-१९८३

—बलजिन्नाथपण्डितः

विषय-सूचिः

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	२	दंशन	दर्शन	५७	७	इदरूप	इदंरूप
६	९	योगियां	योगियों	५७	९	षारमं	पारमे
६	२१	जो	जी	५८	१	ब्राह्म	ब्राह्मा
१०	११	उनमैं	उनमें	६२	१६	प्राणं	प्राणी
१८	१६	जिन्हो	जिन्हों	६९	६	वज्रोलौ	वज्रोली
१९	७	नैसगि	नैसर्गि	७०	२०	ही	हो
१९	१४	प्रकर	प्रकार	७२	२	स्थित:	स्थिता:
२०	६	आटि	आदि	७२	१६	विमश	विमर्श
२१	९	केनेष्ट	केनैष्ट	७९	१३	गभ	गर्भ
२१	९	नेष	नैष	८०	४	रामो	रामा
२१	२१	सो	से	८१	१३	शुल्क	शुक्ल
२३	६	दिन	दित	८४	७	हु	हूं
२८	४	णत्मि	णात्मि	८६	१	स्वयमेम	स्वयमेव
२९	७	द्यरीर	शरीर	८६	२	उससमय	उसीसमय
३१	१९	दृष्टि	दृष्टि	८८	१९	त्वैयं	त्वैव
३२	१४	ऊंकार	ओंकार	८९	१७	जालर	झालर
४१	११	स्वरूरा	स्वरूपा	९०	९	वासना	वासना
४४	३	लावण्य	लावण्य	१०४	८	हसगा	हंसगा
४६	२	स्वात्म	स्वात्म	१०४	१७	अह-स्व	अहं-स्व
४६	११	विमश	विमर्श	१०५	६	पाच	पांच
५४	७	मझ	मुझ	१०५	७	जी	जो

स्तोत्रकार



सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र महामहिम आचार्य
श्रीमद् अमृतवाग्भव जी
चित्र वि० सं० २०३३ के आस पास का

अथ

प्रथममाह्निकम्

(उपोद्घातप्रकरणम्)

सिद्धं समिद्धममितं हृदयेऽस्मदीये
वाक्कामशक्तिजननीवरिवस्ययाऽऽप्तम् ।
नोद्घाटनीयमपि सम्प्रति योगिनीना-
मादेशतो विवृतमस्ति महारहस्यम् ॥१॥

अपरिमित महारहस्यभूत वस्तु हमारे हृदय में स्वयमेव स्वानुभव से ही सिद्ध है और अपने तेज से ही उज्ज्वलतया प्रकाशित होती रहती है। उसकी इस अभिव्यक्ति को हमने वाग्भव बीज, कामराज बीज और शक्तिबीज नाम के तीन रहस्यात्मक मन्त्रों की माता की उपासना के द्वारा प्राप्त किया है । यद्यपि इस रहस्य को जन-

साधारण के सामने प्रकट करना उचित नहीं है, फिर भी योगिनियों की आज्ञा से उसे अब प्रकट किया ही जा रहा है।

ऐसी वस्तु स्वात्मरूप परमेश्वर है। वह सदा अपने चित्-प्रकाश से सदैव प्रकाशित होता ही रहता है। तभी तो प्रत्येक प्राणी स्वयमेव अपने आपको "मैं" इस रूप में जानता है। बीजमन्त्र "ऐं" आदि होते हैं। उनकी माता पारमेश्वरी पराशक्ति है। प्राणियों की इन्द्रियों का और उनके अन्तःकरणों का अन्तः सञ्चालन करने वाली प्रेरक शक्तियां "योगिनी" नाम से प्रसिद्ध हैं। प्राणियों के समस्त ज्ञानमय और क्रियामय व्यवहार उन्हीं की अन्तः प्रेरणा से हुआ करते हैं।

तस्मात् सदैव समुपासितदैशिकेन्द्राः
श्रीमण्डले विधिवदर्जितसन्निवेशाः।
शास्त्रं यथावदवगम्य समस्तमेतत्
सच्छिष्यवृन्दहृदयेषु निवेशयन्तु ॥२॥

इस लिए जिन महानुभावों ने सद्गुरुओं की सतत सेवा की है और जिन्होंने विधिपूर्वक श्रीमण्डल में प्रतिष्ठा प्राप्त की हो, उन्हें इस समस्त शास्त्र को यथार्थतया समझ कर उत्तम शिष्यों के समूह के हृदय में इसे प्रतिष्ठित कर देना चाहिए।

शाक्त उपासना में काम आने वाला एक यन्त्रराज श्रीचक्र कहलाता है। वह यन्त्र दैवी प्रशासन के समूचे ढांचे का एक प्रतीक

है। उसमें सभी निम्नतर और उच्चतर देवगणों के अपने अपने स्थान नियत हैं। उस चक्र की सहायता से विधिवत् पारमेश्वरी पराशक्ति की उपासना करने वाले अपने समुचित देवलोक में प्रतिष्ठा को पा ही जाते हैं और भौतिक शरीर को छोड़ देने पर अपने दिव्य अधिकार को वहां प्राप्त करते हैं।

इह खलु नानाविधवस्तुनिचयपरिपूर्णे विश्वस्मिन् विश्व-मण्डले निजया नैसर्गिक्या वैसर्गिक्या शक्त्या सामरस्येन समव-स्थितेऽभिनवरमणीये परशिवमहाबिन्दौ जायमानः सर्वोऽपि परशिवानतिरिक्त एव। द्वैतभावस्य हि सर्वस्यापि काल्प-निकत्वात्। अत एव तत्प्रतियोगितया स्थाप्यमानोऽद्वैत-भावोऽपि कल्पनाशय्यामेवाधिशेते। एवं हि सर्वेऽपि भावाः परमकारणभूते महागुरौ परमशिवे सृष्टि-स्थिति-संहारनिग्रहा-नुग्रहेतिपञ्चविधतया चञ्चत्प्रपञ्चतामञ्चन्ति।

नाना प्रकार की वस्तुओं के समूहों से भरे हुए इस समस्त संसार में अपनी विसर्ग शक्ति (सृष्टि-संहार-आदि की सामर्थ्य) से सदैव नए नए सौन्दर्य के कारण रमण करने के योग्य परमशिव महाबिन्दु में विद्यमान हैं। उसी के भीतर उत्पन्न होने वाला सब कुछ परमशिव ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है; क्योंकि सारे का सारा द्वैतभाव परमेश्वर के सामर्थ्य से कल्पित है; अर्थात् स्वतन्त्र सामर्थ्यरूपिणी कल्पनाशक्ति से ठहराया हुआ है। इस कारण द्वैतभाव के विरोध में ठहरा हुआ अद्वैत भाव भी कल्पना के आसरे पर ही ठहरा हुआ है। इस प्रकार से सभी पदार्थों का मूल कारण

महागुरु परमशिव ही है और उसी के भीतर सभी पदार्थ सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह (स्व-स्वरूप तिरोधान) और अनुग्रह (स्वस्वरूप-प्रकाशन) रूप पांच प्रकार से आभासमान प्रपञ्च-रूपता को प्राप्त होते रहते हैं।

श्रीचक्र के बीच में लिखा जाने वाला बिन्दु महाबिन्दु कहलाता है। सृष्टि आदि पांच पारमेश्वरी कृत्यों के प्रति उन्मुख इच्छा से आविष्ट परमशिव को बिन्दु कहते हैं। बिन्दुरिच्छुः (पा. सू पा. ३-२-१६९)। पारमेश्वरी लीला के पांच अंग होते हैं। एकमात्र परमेश्वर स्वयं अपने आप को ही भेदात्मक जगत के रूप में प्रकट करता रहता है। यह उसका सृष्टिकृत्य है। इस जगत को युग-युगान्तरों तक ठहराए रखता हुआ इसे नियमों के अनुसार चलाता रहता है। यह स्थिति कृत्य है। समय समय पर कार्य पदार्थों को अपने अपने कारण पदार्थों में विलीन करता रहता है। यह उसका संहार कृत्य है। इन तीनों कृत्यों को चलाता हुआ जीवरूपता में प्रकट होता हुआ अपने आप को ही वास्तविक शिवस्वरूपता को अधिक अधिक ढकता जाता है और जीवों को गहरे से गहरे अज्ञान के अन्धकूपों में धकेलता रहता है। यह उसका निग्रह कृत्य है। फिर अनुग्रह शक्तिपात करता हुआ प्राणियों को मोक्ष के मार्ग के प्रति उन्मुख करता रहता है। यह उसका अनुग्रह कृत्य है। ये पांच कृत्य ही परमेश्वर की परमेश्वरता है जो उसका अपना नैसर्गिक स्वभाव है; यह प्रपंच माया, अविद्या, या वासना के द्वारा उसपर चढ़ाया नहीं गया है। ऐसा शैव दर्शन का अटूट सिद्धान्त है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव सृष्टि आदि पांच कृत्यों को करने वाले पांच कारण

हैं। श्रीचक्र के ध्यान में इनमें से पहले चार को पलंग के चार पावे और सदाशिव को ऊपर का फट्टा माना जाता है। उस पलङ्ग पर महाकामेश्वर परमशिव और उसकी शक्ति महाकामेश्वरी ललिता त्रिपुरसुन्दरी विराजमान रहते हैं। इस तरह से प्रपंच को चलाने वाले पांच कारण परमेश्वर के मञ्च अर्थात् पलङ्ग का काम देते हैं। पलंग बन जाते हैं। ऐसे रहस्य की अभिव्यञ्जना "मञ्चन्ति" इस शब्द की श्रुति से होती है।

ततश्च स महागुरुरूपो महानुभावो महाभागो महाभावः केनेष्टव्यो जिहासयोपादित्सया वा ? केन वा नेषणीय उपादित्सया जिहासया वा ? एवमेव केन हि जिहासोपादित्साभ्यां ज्ञेयो वाऽज्ञेयो वा भावनीयो महाभावः। अथ तथैव क्रियाविषयेऽपि।

तो फिर उस महाभाग, समस्त भावों को भावता का अभिषेक करने वाले महाभाव को तथा उस विशाल तेज वाले महागुरु को कौन परित्याग करने या ग्रहण करने की इच्छा से प्रेरित होकर चाह सके और कौन उसे इस प्रकार से नहीं चाह सके ? फिर इसी प्रकार से कौन उस भावना करने के योग्य महानुभाव को त्याग या ग्रहण करने की इच्छा से प्रेरित होकर जान सके और कौन इस प्रकार से न जान सके ? फिर इसी तरह का नियम क्रिया के विषय में भी जानिए। (अर्थात् उसे कौन इन दो भावों से प्रेरित होकर कर सके और कौन उसी तरह से उसे न कर सके)

प्रत्येक वस्तु की सत्ता परमेश्वर की सत्ता पर ही आश्रित है।

अत: समस्त सद्रूप भावों को भावरूपता देने वाली सत्ता परमेश्वर की ही है। इस तरह से वह महाभाव है। सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप होने से न तो उसका ग्रहण ही किया जा सकता है और न परित्याग ही, न ही वैसा करने की इच्छा ही हो सकती है। वह सभी का अपना आप है। अत: उसका ग्रहण या त्याग करने की इच्छा ही कैसे उद्बुद्ध हो सके ?

सर्वोऽप्ययं प्रपञ्चः पूर्णानन्दायैव कल्पते इति तु सिद्ध-सिद्धान्त एव। तदेतद् यथा तथाऽस्माभिरेव स्वोपज्ञे श्रीआत्म-विलासे सम्यगुपपादितम्। यथा तत्र द्वितीयप्रकरणे —

आनन्द एव पर्यन्तः सापेक्षसुखदुःखयोः।
स्वानुभूत्या विमृशतां निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(आ. वि. २–१६) इति।

यह सारे का सारा प्रपञ्च परिपूर्ण आनन्द को अभिव्यक्त करने में ही लगा रहता हैं, ऐसा सिद्धजनों का सिद्धान्त ही है। तो यह बात जैसे ठीक उतरती है वैसे ही हमने भी अपने शास्त्र श्री आत्मविलास में अच्छी प्रकार से प्रतिपादित किया है। जैसे कि वहां दूसरे प्रकरण में कहा गया है—

"स्वानुभूति के आधार पर विमर्श करने वालों का यह उत्तम और निश्चित सिद्धान्त है कि परस्पर आपेक्षिक सुख और दुःख की चरम विश्रान्ति आनन्द में ही होती है" (आ. वि. २–१६)

तदेवं स्वरूपपर्यालोचनानिभृतविश्रान्तिः प्रयोजनं स्वरस-प्रवहणशीलं सर्वदा सर्वत्र परिस्फुरतितमामिति समन्ततः सिद्धम् । स्वरूपनिर्णयः पुनः सविस्तरमस्माभिरेव स्वोपज्ञे श्रीलात्मविलासे विहितस्तत एव सुनिपुणं समभ्यसनीयः । अत्र पुनः शास्त्रे "श्रीसिद्धमहारहस्य" इत्यन्वर्थाभिधाने श्रीआत्मविलासप्रतिपादितसिद्धान्ताधिष्ठानस्थानीयं रहस्यतमं विज्ञानौपयिकमुपायजातं विज्ञापणीयमिति विषयविभेदः । उपाया अपि स्वानन्दार्थैव स्वकल्पनया व्यवस्थापिता इति तु न विस्मरणीयं जात्वपि ।

इस प्रकार से आत्मस्वरूप के प्रत्यवमर्श (आत्म-अभिमुख विमर्श) पर ठहरी हुई विश्रान्ति जीवन का एक ऐसा प्रयोजन है जो अपने स्वातन्त्र्य के विलास से स्वभावत; प्रवाहित होता रहता है और प्रत्येक समय प्रत्येक स्थान पर अच्छी तरह से परिस्फुरित होता रहता है। यह बात सर्वतः सिद्ध हो गई । स्वस्वरूप का निर्णय हमने ही स्वनिर्मित श्रीआत्मविलास में विस्तारपूर्वक किया है; तो वहीं से अच्छी प्रकार से उसका अभ्यास करना चाहिए। जिस शास्त्र का सर्वथा यथार्थ नाम "श्रीसिद्धमहारहस्य" है, उस प्रकार के इस शास्त्र में श्री आत्मविलास में बताए हुए सिद्धान्तों के आधारशिलारूप और विज्ञान की प्राप्ति के साधन बने हुए अत्यन्त रहस्यभूत उपाय-समूहों का प्रतिपादन करना है। इस प्रकार से श्री आत्मबिलास के और श्री सिद्धमहारहस्य के विषय भिन्न-भिन्न हैं । इस सिद्धान्त को कभी भूलना नहीं चाहिए कि उपाय-समूह भी अपने आनन्द के ही लिए अपनी कल्पना-शक्ति से ठहराए गए हैं।

परिपूर्णं खलु सर्वमपि समस्तीति समस्ताविराधितया सिद्धे स्वरस-प्रवहण-शीले सिद्धान्ते द्वैताद्वैतमूलाधिष्ठाने भगवति परमेश्वरे एव प्रश्नोत्तरमालिकानामप्युदयो भवितुमर्हति । परमशिवस्यैव सनातनत्वात् । तदतिरिक्तस्य कस्याप्यप्रतीयमानतयाऽसत्त्वात्, आपेक्षिकसदसतोर्द्वयोरपि महासत्तायामेवान्तर्भावात, विधिशास्त्राणां निषेधशास्त्राणां च महाविधावेव पर्यवसानसिद्धान्तात् ।

परिपूर्ण पदार्थ में प्रत्येक वस्तु समाती है। इस कारण किसी भी वस्तु से विरोध न रखते हुए जो स्वत: सिद्ध है, जो अपने आनन्दरस से स्वतन्त्रतापूर्वक प्रवाहित होने वाला सिद्धान्त है, दोनों ही द्वैत और अद्वैत का जो मूलाधार है, उस भगवान् परमेश्वर ही के भीतर प्रश्नों और उत्तरों की परम्परा का उदय हो सकता है, क्योंकि— (१) परमेश्वर ही सनातन, अर्थात पुरातन तथा सदा के लिए विद्यमान रहने वाला तत्त्व है। (२) उससे पृथक् और अतिरिक्त बनी हुई कोई भी वस्तु प्रतीत नहीं होती है, अत: वैसी कोई वस्तु सत् नहीं। (३) जो फिर यह आपेक्षिक सत्ता और आपेक्षिक असत्ता है, उन दोनों का अन्तर्भाव महासत्ता में ही होता है। (४) फिर यह सिद्धान्त है कि विधिशास्त्रों और निषेधशास्त्रों का पर्यवसान महाविधि में ही होता है।

भवतु। अत्रेदं बोध्यम्—

भगवान् परमशिव एव खलु स्वात्मानं द्विधा कृत्वा

समस्तप्रपञ्चं स्वरूपमपि स्वविलक्षणं प्रपञ्चयति । तदेत-दस्माभिः स्वोपज्ञे श्रीलात्मविलासे सुविशदं निरूपितम् । यथा —

स्वात्मानं स्वविलासेन विश्वरूपेण भासयन् ।
नित्योदितः कोऽपि देवो जयत्यात्मा परः शिवः ॥

(आ वि. २–१) इति ।

अच्छा, तो यह बात समझने के योग्य है — भगवान् परमशिव ही अपने आप को दो रूपों में प्रकट करके स्वात्मस्वरूप बने रहते हुए ही इस प्रपञ्च को अपने से भिन्न रूप में अनन्त प्रकार के वैचित्र्य से आभासित करते हैं । तो यह बात हमने अपने श्री आत्मविलास में सुस्पष्ट रूप से इस प्रकार से प्रतिपादित की है —

अपने आप को अपने ही विलास के द्वारा विश्व के रूप में प्रकट करता हुआ, शाश्वततया उदय को प्राप्त हुआ परमशिवात्मक आत्म -रूपी कोई सततक्रीडनशील प्रकाशमान् देव सर्वोत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है । (आ. वि २–१)

श्रीराष्ट्रसञ्जीवनाभिधाने श्रीराष्ट्रालोकभाष्ये कल्याण-सौगन्धिकव्याख्यायां श्रीकलायां च प्रसङ्गतो विशदीकृतमस्मा-भिः । इदानी पुनः सिद्धान्तरूपेण "श्रीसिद्धमहारहस्यम्" शिष्यजनानुजिघृक्षयावतारयिष्यते ।—

इस सिद्धान्त को हमने प्रसङ्गवश राष्ट्रालोक के राष्ट्रसञ्जीवन

नामक भाष्य में तथा कल्याणसौगन्धिक की श्रीकला नामक व्याख्या में स्पष्ट किया है। इस समय तो शिष्यजनों पर अनुग्रह करने की इच्छा से सिद्धान्त रूप में श्रीसिद्धमहारहस्य को प्रस्तावित किया जा रहा है।

इत्युपोद्घातप्रकरणं नाम प्रथममाह्निकम्।

यह उपोद्घातप्रकरण नाम का पहला आह्निक पूरा हो गया।

सभीकारिकाएं = २

अथ

द्वितीयमाह्निकम्

(मगङ्लाचरणप्रकरणम्)

रक्तशक्तिममितौजसीं कलां
लालितीममृतवर्षिणीं पराम् ।
सारसेऽहमि सहस्रपत्रके
हंसगां शिरसि गौरवीं भजे ॥१॥

मैं मस्तिष्क के भीतर ब्रह्मरन्ध्र के समीप विद्यमान, षट्चक्रों में से सब से ऊपर वाले, अहंस्वरूप—जीवशक्त्यात्मक सहस्रदल कमल के भीतर निवास करने वाली, हंसवाहिनी, अथवा प्राणात्मक हंस पर आरूढ हुई, सहस्रदल में ठहरे हुए चन्द्रमण्डल से अमृत बिन्दुओं की वर्षा करती हुई, अत्यन्त कोमल शरीर वाली, मूर्तिमती सुन्दरता

बनी हुई, अपरिमित तेज वाली, रक्तवर्ण वाली और गुरु के अनुग्रह से ही साक्षात्कार को प्राप्त हुई, परमेश्वर की कलन-सामर्थ्यरूपिणी, अर्थात् सृष्टि आदि पांच कृत्यों को उल्लास में और विकास में लाने वाली, सर्वोत्कृष्ट, तुरीयवर्णात्मका कामकला नाम की महाशक्ति का भजन कर रहा हूं।

वस्तुतः परमेश्वर ही एक मात्र पारमार्थिक सत्य तत्त्व है। उसके भीतर यदि सृष्टि-संहार आदि पांच पारमेश्वरी कृत्यों को विकास में लाने के प्रति उन्मुखता रूपी इच्छा नहीं होती तो कुछ भी नहीं होता। केवल परब्रह्म ही होता। वह भी होता या नहीं होता, कुछ कहा सुना भी नहीं जाता। तो यह प्रपञ्च इस लिए विकास को प्राप्त होता है कि परमेश्वर अपने आप को इस रूप में प्रकट करना चाहता है और अपनी उस चाह के खेल को पूरी तरह से खेलना चाहता है। परमेश्वर की ऐसी परमेश्वरतात्मिका परा इच्छाशक्ति ही उसकी दिव्यातिदिव्य अभेद निष्ठ कामना है। ऐसी कामना अपनी शक्ति की पूरी अभिव्यक्ति की कामना है, अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं। ऐसी पारमेश्वरी कामना को ही सिद्धों की भाषा में कामकला कहते है। क्योंकि परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही उसकी कला के रूप में अभिव्यक्त होती रहती है और उसी के आधार पर समस्त प्रपंच के सारे के सारे व्यापार और व्यवहार अबाध गति से चलते रहते हैं। अतः सिद्ध जन उस भगवती कामकला की उपासना को विशेष महत्त्व देते हैं। जितने भी बीजमन्त्र होते हैं वे सब परमेश्वर की शक्तियों के प्रतीक होते हैं। उनमें कामकला नामक बीजमन्त्र का विशेष

महत्त्व यह है कि उसके द्वारा उपासना करने पर भोग और मोक्ष पूरी तरह से मिल सकते हैं। उसी कामकला देवी की वन्दना इस मङ्गलात्मक पद्य के द्वारा की गई है।

दिव्यान् सिद्धान् मानवाँश्च गुरुन् गुरुपरम्परा: ।
सर्वेषां पादुकाश्चाहं वन्दे वाक्कायमानसै: ॥२॥

मैं मन, वाणी और शरीर के द्वारा दिव्यशरीर धारी, सिद्ध शरीर धारी और मानव शरीर धारी गुरुओं को, गुरुओं की परम्पराओं को और उन सब की पादुकाओं को प्रणाम करता हूं।

श्रीकण्ठ, नन्दी आदि गुरु दिव्य गुरु होते हैं। ये दिव्यशरीर-धारी होते हैं। चिरजीवी सिद्ध सिद्धगुरु कहलाते हैं। वे दत्तात्रेय, दुर्वासा, परशुराम आदि हैं। मानवगुरु साधारण मानव-शरीर में रहते हुए ही तत्त्व को साक्षात जानकर और पूरी तरह से अनुभव में लाकर प्रारब्ध कर्म के भोग की समाप्ति तक इसी मर्त्य लोक में ठहरते हुए योग्य अधिकारियों का उपकार करते रहते हैं। इन तीनों प्रकार के गुरुओं की परम्पराओं को सैद्ध मार्ग में दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ कहते हैं। उन तीनों को ग्रन्थारम्भ में प्रणाम किया जा रहा है।

पूर्वमङ्गं समस्तानां प्रारम्भाणां प्रधानत: ।
स्मरणं वारणास्यस्य सर्वविघ्नौघवारणम् ॥३॥

सभी प्रारभ्यमाण कार्यों के आरम्भ में सभी विघ्नों को नष्ट

करने वाले गजानन भगवान् गणेश का स्मरण सबसे पहला और सबसे प्रधान कर्तव्य होता है ।

प्रकाशानां विमर्शानां गणानां स्वमहं पतिम् ।
महाशाकसुतं वन्दे प्रारम्भप्रणवं गिराम् ॥४॥

सभी प्रकाशों और विमर्शों के गणों, अर्थात समूहों के स्वामी, सभी वाणियों के प्रारम्भ में प्रणव की तरह ठहरे हुए, महाशक्ति-स्वभाव परमेश्वर के पुत्र, अपने आप रूपी अहं के रूप में प्रकट होते हुए आध्यात्मिक गणपति को मैं प्रणाम करता हूं ।

वस्तुओं के आभासमात्र को प्रकाश कहते हैं । फिर उनके विषय में जानने वाले प्रमाता को जो अन्तः प्रतीति होती है कि अमुक वस्तु है, या ऐसी या वैसी है, उस अन्तः प्रतीति को विमर्श कहते हैं । प्रकाश वस्तुओं को केवल चमका ही देता है और विमर्श उनकी तथा उनके चमकने की प्रतीति के रूप में प्रमाता में अर्थात् जानने वाले की आत्मा में विश्राम लेता है । उसी से जानने वाले को सन्तोष हो जाता है कि मैंने अमुक विषय को जान लिया । जानने वाला आत्मदेव ही समस्त क्षणिक प्रकाशों और विमर्शों का स्वामी है, क्योंकि उसी की सामर्थ्य से प्रकाश भी होते हैं और विमर्श भी ।

आत्मदेव वस्तुत: स्वयं परमेश्वर ही है । स्वयं परमेश्वर ही जब अपनी परमेश्वरता को अपने विलास की लीला में आते हु

भुला डाला तो अल्पज्ञ और अल्पशक्ति जीव के रूप में प्रकट हो गया। इस तरह से परमेश्वर ने ही आत्मदेव रूपी जीवों की सृष्टि की है। अतः सभी आत्माएं उस परमेश्वर की ही सन्तति है। इसी लिए आत्मदेव को परमेश्वर रूपी भगवान शिव का पुत्र कहा गया। तो आध्यात्मिक गणेश अपना जीवस्वरूप ही है।

परमेश्वर तभी परमेश्वर है जब उसमें परमेश्वरता है। परमेश्वरता उसका आवश्यक और नैसर्गिक स्वभाव ही है, उसके स्वरूप से कोई भिन्न पदार्थ नहीं हैं। केवल समझाने के लिए परमेश्वर को शिव कहते हैं और उसकी परमेश्वरता को शक्ति कहते हैं। वस्तुतः शिव शक्ति ही है। शक्ति ही उसकी शिवता को प्रकट करती है, ठहराती है और सिद्ध करती है। जिस किसी पहलू से उसके विषय में विचार विमर्श करो वह वह पहलू उसकी कोई न कोई शक्ति ही होगा। अतः शिव अनन्तशक्तियों का अपरिमित एकघनस्वरूप है। तो उसे शक्ति ही वस्तुतः कहा जाना चाहिए। तभी तो शाक्तदृष्टि से परमशिव को परा चित्-शक्ति कहा जाता है। परन्तु जनसाधारण की भाषा में शक्ति दिव्य सामर्थ्यों वाली किसी महिला को ही समझा जाता है, परिपूर्ण परब्रह्म को नहीं, क्योंकि यह शब्द वैसी महिला रूपिणी देवियों के लिए रूढ हो गया है। फिर व्याकरण की दृष्टि से भी क्तिन् प्रत्ययान्त शब्द ऐसे पदार्थों को बताते हैं जो किसी आधार-भूत अन्यपदार्थ की विशेषताएं हों, जैसे कृति, उक्ति, प्रीति इत्यादि। ऐसी ऐसी लोकव्यवहार की स्थितियों को विचार में रखते हुए श्री आचार्य महोदय ने एक ऐसे शब्द को गढ़ लिया है

जो शक्ति की प्रधानता को भी बतलाता है और फिर भी पराश्रितता को न जतलाता हुआ एक स्वतन्त्र सत्ता की विभूति से युक्त पदार्थ का वाचक बनता है । ऐसा वह शब्द है—'शाक:' शक् धातु से घञ् प्रत्यय भावार्थ मे लगा कर यह शब्द बनता है । इसकी व्युत्पत्ति है "शकनं शाक:"; अर्थ है सकना । इस तरह से यह शब्द भावप्रधान है, स्वाश्रित अर्थ को जतलाता है, और इसका तात्पर्य है समस्त सामर्थ्यों का एकघनस्वरूप पदार्थ । इस शब्द का प्रयोग इस प्रकृत शास्त्र में बहुत स्थानों में आएगा । अत: इसकी ऐसी व्याख्या का समझना और स्मरण रखना आवश्यक है । छोटे-छोटे इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि 'शाकस्वरूप' ईश्वरों की अपेक्षा परमेश्वर 'महाशाकस्वरूप' है । इन ईश्वरों की ईश्वरता परिमित है, परन्तु परमशिव रूपी परमेश्वर की 'शाकता' सर्वथा अपरिमित है ।

जैसे प्रणव (ॐकार) सभी मन्त्रों के आरम्भ में आता है, उसी प्रकार सभी विचारों, व्याहारों, व्यवहारों, व्यापारों, आदि के आरम्भ में उनका कर्ता रूपी अधिष्ठान विद्यमान रहता है, जो आत्मदेव है । प्रकृतशास्त्र के शाब्दस्वरूप के आरम्भ में उसी गणपति को नमस्कार किया जा रहा है ।

क्षीरोदधेरिवोमाया उद्यन्नानन्दयञ्जगत् ।
ग्लौरिव श्रीगणाधीशो विघ्नस्तोमं निहन्तु नः ।।५।।

जिस प्रकार क्षीरसमुद्र में से उदित हुआ चन्द्रमा सारे जगत् को आनन्दित करता है उसी प्रकार से भगवती उमा जी से उत्पन्न होते

हुए श्री गणपति देव सारे जगत को आनन्दित करते हुए हमारे (समस्त) विघ्नों के समूहों को नष्ट कर दें।

यह स्तुति आधिदैविक गणेश जी की है।

कपाली कुण्डली दण्डी सिन्दूरारुणविग्रहः।
श्रीमान् वटुकनाथः स्तादापदुद्धारणाय नः ॥६॥

कपाल को, कुण्डलों को और दण्ड को धारण करने वाले तथा सिन्दूर के समान लाल रंग के शरीर वाले भगवान् वटुक नाथ समस्त आपदाओं से हमारा उद्धार करते रहें।

आधिदैविक स्वरूप में भगवती त्रिपुरसुन्दरी के दो प्रिय पुत्र हैं गणेश और वटुक। विघ्नों का निवारण करने के लिए गणेश की और आपदाओं का नाश करने के लिए वटुकनाथ की उपासना की जाती है।

ऐंदवीं कलिकां शीर्षे शौक्लीं भूतिं च वर्ष्मणि।
चान्द्रीं सौरीं तथाग्नेयीं दृष्टिं बिभ्रच्छिवोऽवतात् ॥७॥

सिर पर चन्द्रमा की कला को, शरीर पर सफेद रंग की भस्म को तथा चन्द्रसूर्य और अग्निमयी दृष्टि को धारण करने वाले भगवान् उमापतिनाथ शिव हमारी रक्षा करें।

यह भगवान् शिव के आधिदैविक स्वरूप की स्तुति है। प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता की त्रिपुटी को आगम शास्त्रों में क्रम से सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि, ये तीन नाम दिए गए हैं। अनन्त-

अनन्त रूपों में प्रकट होते हुए इन तीनों पदार्थों के समस्त ज्ञान क्रियात्मक व्यवहारों का मूलतः सञ्चालन करने वाले देवाधिदेव भगवान् कैलासवासी शिव हैं। अतः ये तीन पदार्थ उनके तीन नेत्र हैं। इन्हीं से समस्त व्यवहारों का प्रकाशन होता रहता है।

फुल्लालापाः प्रतिपदं पर्यन्ते तीर्थयात्रिणः।
मुण्डयन्ते यत्र पाण्डेयैस्तानि तीर्थानि पान्तु नः ॥८॥

इस कारिका के दो अर्थ हैं —

(१) वे शास्त्र हमारी रक्षा करें जिनके क्षेत्र में पद-पद पर वाद-विवाद शास्त्रार्थ आदि करते हुए विद्यार्थी अन्त में सत और असत का विवेक करने वाली बुद्धि से विभूषित विद्वानों के द्वारा दीक्षित किए जाते हैं।

(२) वे तीर्थस्थान हमारी रक्षा करें जहां पद-पद पर विविध विषयों पर परस्पर वार्तालाप करते हुए यात्री जन अन्त पर तीर्थपण्डों के द्वारा मूंड लिए जाते हैं।

तीर्थानि=शास्त्राणि; तीर्थयात्रिणः—शास्त्रचिन्तकाः; सदसद्विवेकिनी बुद्धिः पण्डा, तच्छालिनो विद्वांसः पाण्डेयाः। मुण्डयन्ते —दीक्ष्यन्ते लुण्ठ्यन्ते वा।

श्रीराधारुक्मिणीकान्तं श्रीश्रीकृष्णं महागुरुम्।
वरया कलया युक्तं वन्दे शङ्कररूपिणम् ॥९॥

श्रीराधा और श्री रुक्मिणी के प्रियतम श्रेष्ठ (वरया) पारमेश्वरी

शक्ति से (कलया) युक्त शिवरूप महागुरु श्री श्रीकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूं।

जो अपने आप को इस तरह से पहचान लेता है कि 'मैं वस्तुत: परमेश्वर ही हूं' वह देहधारी शिव ही होता है। भगवान् श्री कृष्ण भी ऐसे ही देहधारी शिव हैं। भगवान् दुर्वासा के द्वारा सिखाई हुई शाम्भवी योगविद्या के अभ्यास से उन्होंने अपने शिव-स्वरूप को पहचान लिया था। तभी तो उनकी गीता में शैवयोग के अनेकों रहस्य भरे पड़े हैं जिन्हें अधिकांश बड़े-बड़े टीकाकार और भाष्यकार भी समझ नहीं पाए हैं।

फिर ग्रन्थकार महोदय के पूज्य पिता जी का नाम भी श्री कृष्ण शास्त्री था। उनकी पूज्या माता का नाम श्री राधा था और पिता जी की दूसरी पत्नी का नाम श्री रुक्मिणी था। अत: इस पद्य के द्वारा उन्हें भी नमस्कार किया जा रहा है। 'वरकले' ग्रन्थकार के वंश का नाम भी है।

स्वयंसिद्धे भगवति शिवेऽशेषे मनोहरे।
वाचामगोचरे वन्दे नित्यं पदमनामयम् ॥१०॥

इस पद्य के भी दो अर्थ हैं। एक के द्वारा परमेश्वर के पारमेश्वर्य पद को और दूसरे के द्वारा पराशक्ति के आनन्दमय पद को प्रणाम किया जा रहा है।

(१) स्वत:सिद्ध, ऐश्वर्यवान्, कल्याणस्वभाव, मनोहर और वाणी का विषय न बन सकने वाले सर्वस्वरूप परमेश्वर

का जो शाश्वत और क्लेशरहित (परमेश्वरतारूपी) पद है उसको मैं प्रणाम करता हूं।

(२) हे वाणी का विषय न बनने वाली, स्वत:सिद्ध, परम-ऐश्वर्य वाली, समस्त विश्वस्वरूपिणी, अत्यन्त मनोहर पराशक्ति देवी, मैं आप के आनन्दमय पद को सदा प्रणाम करता हूं।

इस पद्य के अधिकांश पद सप्तमी के एक वचन में शिव के अर्थ में लगते हैं और शक्ति के अर्थ में वे सभी सम्बोधन के एकवचन में होते हुए लगते हैं। इस तरह से दोनों अर्थ ठीक लगते हैं।

इति मङ्गलाचरणं नाम द्वितीयमाह्निकम्।
यह मङ्गलाचरण नाम वाला द्वितीय आह्निक पूरा हो गया।
यहां तक सभी कारिकाओं की संख्या = १२

अथ

तृतीयमाह्निकम्

(सिद्ध-सिद्धान्तप्रकरणम्)

त्यागं त्यागाय मुखजो भोगं त्यागाय बाहुजः ।
भोगाय चोरुजस्त्यागं भोगं भोगाय पादजः ॥१॥
वृणोमि मनसा वाचा विवृणोम्यावृणोम्यपि ।
चर्यया जीवतामाप्तस्तत्तद्वर्णगतः शिवः ॥२॥

शिव होता हुआ मैं अपने ही विलास से जीवभाव को प्राप्त करके चार वर्णों के रूपों को धारण करता हुआ, ब्राह्मण होता हुआ त्याग रूपी प्रयोजन के लिए त्यागात्मक उपाय को, क्षत्रिय होता हुआ त्याग के लिए भोग को, वैश्य होता हुआ भोग के लिए त्याग

को और शूद्र होता हुआ भोग के लिए भोग को मन से स्वीकृ करता हूं, वाणी से अभिव्यक्त करता हूं और क्रिया से उसव आचरण करता हूं ।

इस कारिका के द्वारा चार वर्णों की स्वाभाविक प्रवृत्ति व निरूपण किया गया है ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः (भ. गी. ४-१३)

इस श्लोकार्ध के अनुसार गीताकार के मत में चार वर्णों जो स्वाभाविक गुण कर्म भेद हैं वे संक्षेप से वही हैं जिन व वर्णन "त्यागं त्यागाय" इत्यादि श्लोक के द्वारा ऊपर किया ग है। चारों वर्णों के वेदाध्ययन, प्रशासन, वाणिज्य, सेवा आ सभी गुण कर्म इन्हीं चार में गिने जा सकते हैं ।

भावाभावोल्लासिकलो विन्दुगो निजमन्दिरे ।
दीव्यामि स्वावबोधोऽहं महो वैसर्गिकं सदा ॥३

मेरी अपनी स्वाभाविक कला ही समस्त भाव-अभाव-रूप वि को उल्लसित करती है । मैं विन्दु के भीतर विद्यमान् हूं, स्वप्रक हूं, विसर्ग में, अर्थात् विश्वसृष्टि में, व्याप्त तेज हूं और अपने नि रूप भवन में (प्रकाश-विमर्श-लीला के द्वारा सृष्टि-संहार आदि प कृत्यों का) खेल खेलता हूं और ऐसा करता हुआ ही सदैव अपने प्र के द्वारा सर्वोत्कर्ष से चमकता रहता हूं ।

परमेश्वर परमशिव सृष्टि-संहार आदि क्रीडा का अभिनय व

के लिए अपनी स्वभावभूत उमंग रूपी इच्छा से आविष्ट होकर रहता है। उस इच्छा के आवेश के कारण उसे विन्दु कहा जाता है। वह अपनी पारमेश्वरी कला के द्वारा स्रष्टव्य पदार्थ का अपने में ही विमर्शन करता है। इस रूप में वह नाद कहलाता है। नाद मूलतः विमर्शात्मक शब्दना को कहा जाता है। तदनन्तर अभिव्यञ्जनशील ध्वन्यात्मक शब्द भी नाद कहलाता है । मूलतः अभिव्यञ्जन भी विमर्श के ही द्वारा होता है । उसी से भेद-प्रथात्मक बिन्दु (भिदिर्-अवयवे) की सृष्टि होती है । सृष्टि को विसर्ग कहते है। अतः विसर्ग अनुस्वार का अनुसरण करता है । आत्मदेव का अन्तरतम वास्तविक स्वरूप विन्दु ही है । उसी की महिमा से वह क्रीडनशील है । उसकी क्रीडा का पहला अङ्ग विसर्ग अर्थात् सृष्टि है। अतः वह वैसर्गिक तेज रूप प्रकाश है । वह विन्दु है और उसका आपेक्षिक रूप बिन्दु है । बिन्दु और नाद के ही क्रम से उसका सारे का सारा बाह्य अभिव्यक्ति का खेल चलता रहता है।

शक्नोमि काशे स्वाकाशे स्वातन्त्र्यात् पारिपूर्ण्यतः ।
युगपत् सामरस्येन नित्यं सोऽहमहम्महः ।।४।।

मैं सकता हूं, अर्थात् सामर्थ्यरूप हूं, इसी से अपने ही अनुत्तर रूप महाशून्य में अपनी स्वतन्त्रता से सदैव एक साथ ही परिपूर्णता के भाव में और असीम अहंविमर्श के रूप में समरसता से प्रकाशित होता रहता हूं।

जैसे दूध के भीतर मलाई, दही, मक्खन, घी, पनीर आदि सभी वस्तुएं दूध के ही रूप में तथा सर्वशा एकरूपतया रहती हैं, उसी तरह से परमेश्वररूपी आत्मदेव के परिपूर्ण चैतन्य के भीतर सब कुछ चैतन्य ही के रूप में विद्यमान रहता है। परमेश्वर के साथ विश्व की ऐसी एकरूपता को सामरस्य कहा जाता है। दूध से जब दही इत्यादि बनते हैं, तो दूध दूध नहीं बना रहता, उसके स्वरूप में परिवर्तन आता है और उसका स्वभाव बदलता है परन्तु परमेश्वर जगत के रूप में चमकता हुआ भी अपने शुद्ध चैतन्य रूप में सदा ठहरा ही रहता है। उसके वास्तविक स्वरूप में और परमेश्वरतात्मक स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आता उसकी यह सारी पारमेश्वरी क्रीडा प्रतिबिम्ब न्याय से चलती ही रहती है और यही उसकी परमेश्वरता है।

समस्मि सुकृती स्वस्यामिष्टौ ज्ञातौ कृतावलम् ।
विमर्शे च प्रकाशे च विश्राम्यामि स्फुरन् समम् ॥५

विश्वसृष्टि आदि अत्युत्तम पारमेश्वरी कृत्यों को करने वाला स्वस्वभावरूप और स्वात्मरूप इच्छा, ज्ञान और क्रिया में पूरी तरह से समर्थ हूं। मैं स्पन्दमान् रहता हुआ एक साथ ही समभाव प्रकाश और विमर्श पर विश्रान्त होता रहता हूं।

आत्मदेव अपने चैतन्यात्मक आध्यात्मिक प्रकाश से ही "अहं इस रूप से चमकता ही रहता है। उसे इस बात के लिए न सूर्य आदि के भौतिक प्रकाश की और न ही इन्द्रियों और मन

हो सहायता की कोई आवश्यकता पड़ती है । फिर उसे अपने आपका "अहं" इस रूप से विमर्शन भी होता ही रहता है । तो वह चमकता भी है और उसे अपनी प्रतीति भी विमर्श द्वारा होती ही रहती है। इस तरह से वह परिपूर्ण प्रकाश भी है और परिपूर्ण विमर्श भी है। विमर्शन वस्तुतः प्रकाश की क्रिया है । तो प्रकाश होता हुआ वह परिपूर्णज्ञान स्वरूप है और विमर्श होता हुआ परिपूर्ण क्रिया स्वरूप है । अतः सब कुछ जानने और करने में स्वतन्त्र और समर्थ होता हुआ और अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार सब कुछ जानता और करता हुआ आत्मदेव पांच पारमेश्वरी कृत्यों को करता रहता है। इस सुमहान कार्य को करने में वह अपनी ही स्वात्म स्वरूपा इच्छा शक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति पर निर्भर रहता हुआ उन्हीं पर विश्रान्त होकर रहता है ।

आत्मना कलये वेद्मि नदामि स्वसमर्थितः ।
हृष्टः पुष्टश्च तुष्टश्च विवृणोम्यावृणोमि च ॥६॥

मैं आनन्द की लहर में आकर अपने आप ही (सब कुछ) करता रहता हूं, फिर स्वयमेव अपने आप ही विश्वरूपता में विकास को प्राप्त करके मैं उसे जानता रहता हूं। उससे पूरी तरह से सन्तुष्ट होकर गरजता रहता हूं, अर्थात् अपने बोध का अभिनन्दन करता रहता हूं। इस लीला में मैं स्वयमेव अपने आप का तिरोधान भी करता रहता हूं और प्रकाशन भी । यह सब कुछ मैं अपनी ही सामर्थ्य से समर्थ होता हुआ करता रहता हूं ।

तात्पर्य यह है कि मैं परमेश्वर होता हुआ अपनी ही पारमेश्वरी शक्ति से स्वयमेव अपने आप के ही सृष्टि, संहार आदि पांच कृत्यों को करता रहता हूं।

योगिनीनां चतुःषष्टिं कलानां षोडशीं तथा ।
चतुष्टयीमवस्थानां प्रकाशे विमृशाम्यहम् ।।७।।

मैं अपने प्रकाश के भीतर चार अवस्थाओं का, सोलह कलाओं का और चौंसठ योगिनियों का विमर्श करता हूं, अर्थात् अपने विमर्श के द्वारा अपने प्रकाश में उन्हें अभिव्यक्त करता हूं।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या इन चार अवस्थाओं के परस्पर मिश्रण से जो सोलह प्रकार बनते हैं वह सोलह कलाएं कहलाती हैं। उन सोलह के साथ चारों का पुनः मिश्रण हो जाने से जो चौंसठ प्रकार बनते हैं उन पर अधिष्ठान करने वाली देवियां चौंसठ योगिनियां हैं।

शाकः काशश्च काशश्च शाको भवति सर्वथा ।
यः काशते स शक्नोति यः शक्नोति स काशते ।।८।।

सब प्रकार से 'सकना' ही प्रकाश होता है, क्योंकि जो स्वयं प्रकाशित होता है वही सकता है और जो सकता है वही प्रकाशित होता है।

'शाक' सामर्थ्य को कहते हैं। जिसमें प्रकाशित होने की

सामर्थ्य हो वही प्रकाशित होता है। फिर जो तत्त्व स्वयमेव विना किसी की सहायता से प्रकाशित होता रहता है वही प्रकाशित हो सकता है। वही सब कुछ होने में समर्थ है। अतः 'शाक' और 'काश' (प्रकाश) एक ही मूल तत्त्व के दो नाम हैं। 'काश' उसकी शिवता है और 'शाक' शक्तिता।

शाकोऽहं स्पन्दमानः सन् स्वस्मिन्नेमि प्रकाशताम्।
विमृशन् स्पन्दमानत्वं स्वस्मिन्नेमि विमर्शताम् ॥९॥

'शाकरूप', अर्थात् परिपूर्ण सामर्थ्यरूप होता हुआ ही मैं सतत गति से स्पन्दित होता हुआ अपने ही भीतर प्रकाशरूपता को प्राप्त होता हूं। अपनी स्पन्दमानता का विमर्शन करता हुआ मैं अपने में ही विमर्शरूपता को प्राप्त होता हूं।

प्रकाश प्रकट होने को कहते हैं। आत्मदेव स्वयमेव अपने ही स्वभावभूत सामर्थ्य से सदैव "अहं" इस रूप में प्रकट होता ही रहता है। प्रकटता की साक्षात अनुभूति को विमर्श कहते हैं। विमर्शनात्मक क्रिया से प्रकाश में जो गतिशीलता जैसी आध्यात्मिक हलचल अभिव्यक्त हुआ करती है, उसे स्पन्द कहा जाता है। स्पन्द आत्मदेव का अपना स्वभाव है। उसी स्वभाव की महिमा से वह सदैव सृष्टि-संहार आदि करता ही रहता है।

अन्तर्बहिः शाक एव काशं स्वं विमृशन्नहम्।
प्रभुर्विलासतामेमि लौहितीं लालितीं वहन् ॥१०॥

मैं 'शग्क' अर्थात् 'सकना' (सामर्थ्य) ही हूं। भीतर और बाहिर अपने ही प्रकाश का विमर्शन करता हुआ तथा पूर्ण स्वतन्त्र होता हुआ सौन्दर्य और लावण्य को धारण करता हुआ विलास बनता रहता हूं।

सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान (तिरोधान) और अनुग्रह नामक पांच पारमेश्वरी कृत्य आत्मदेव के विलास हैं। आत्मदेव का स्वभाव परिपूर्ण आनन्द है। उसकी आनन्दमयता ही उसका सौन्दर्य और लावण्य है। अपने पारमेश्वरी स्वभाव का विमर्शन ही विकास को प्राप्त होता हुआ आत्मदेव का ऊपरोक्त विलास बनता है।

विभक्तीनां सप्तकेन वाग्रूपं स्वं गृणामि च।
सम्बोधनेन स्वस्यैव स्वात्मानं विमृशाम्यहो ॥११॥

सात विभक्तियों के द्वारा मैं अपने शब्दात्मक स्वरूप की स्तुति करता हूं और आश्चर्य है कि मैं अपने ही आप का सम्बोधन करने से अपने ही आप का विमर्शन करता हूं।

विभक्तियां कारकों को जतलाती हैं। सभी कारकों के रूप में स्वयं आत्मदेव ही अपनी माया शक्ति के विलास से प्रकट हुआ करता है। वह स्वयमेव अपने ही स्वभावभूत विलास से सम्बोधन करने वाला भी और सम्बुध्यमान भी बनता रहता है।

उत्तमः पुरुषः स्वस्मिन् भामि यामि रमे सदा।
वमामि स्वं प्रामि पामि संहरामि स्वयं प्रभुः ॥१२॥

मैं उत्तम पुरुष हूं और अपने आप में ही चमकता हूं, गतिशील बनता रहता हूं और सदा रमण (क्रीडन) करता रहता हूं। मैं अपने ही आप की सृष्टि करता हूं, अपने ही आप में परिपूर्ण हूं और अपने ही आप की रक्षा और संहार करता रहता हूं, क्योंकि मैं परिपूर्णतया स्वयं समर्थ हूं।

पुरुषों में सर्वोत्तम् "अहं" स्वरूप आत्मदेव ही है। अतः व्यवहार में भी अहं ही के लिए उत्तमपुरुष का प्रयोग किया जाता है। वमन का अर्थ सृष्टि है, 'प्रामि' परिपूर्णता को जतलाता है।

समालम्ब्य समेधन्ते यत्पदं स्फुरिताधराः।
स्फुरणेन क्रियास्तास्ताः कलावत्यो निरन्तरम् ॥१३॥
सोऽहं शाकोऽभिनन्दामि स्वं क्रियापदमुत्तमम्।
मामालम्ब्यैव सर्वत्र कारकत्वं प्रतिष्ठितम् ॥१४॥

स्फुरण अर्थात् स्पन्दन के द्वारा पृथ्वी पर्यन्त समस्त तत्त्वों को अभिव्यक्त करने वाली तथा कलाओं में कुशल होने वाली सृष्टि आदि सभी (पारमेश्वरी) क्रियाएं जिस शिव पद का आसरा लेकर के ही और जिस शिवपद की प्राप्ति के लिए ही निरन्तर विकास को प्राप्त होती रहती है वह 'शाक रूप' (सकना) मैं हूं। मैं अपने उस श्रेष्ठ क्रिया पद (सम्पूर्ण क्रियाओं के प्राप्य पद) का अभिनन्दन करता हूं क्योंकि मेरा आसरा लेकर के ही तो सभी कारकों में कारकता प्रतिष्ठित हुई है।

कर्तृ कारक ही सभी अन्य कारकों के व्यापार का आधार बनता है। कर्तता मूलतः स्वयं स्वात्मदेव की ही सर्वत्र चमकती रहती है। अतः सभी कारक में स्वयं हूं।

धातुभावेन सन्धातुं धातून् सर्वानपि स्फुरन्।
शाकोऽहमेव शक्नोमि वाचयन् सकलाः क्रियाः ॥१५॥

मूलभूत धातुभाव से स्वयं स्फुरित होता हुआ शाकरूप मैं ही तो सभी क्रियाओं का शब्दात्मक विमर्शन करता हुआ सभी धातुओं को धातुरूपता से ठहरा सकता हूं।

धातु क्रिया को जतलाते हैं। क्रिया का मूल आधार क्रिया-शक्तिमान् आत्मदेव ही है। फिर शब्द जो कुछ जतलाते हैं वह विमर्श के माध्यम से ही जतलाते हैं। विमर्श आत्मदेव का ही स्वभाव है, अन्य किसी का नहीं।

भासमानः प्रतिपदं प्रोत ओतः स्ववैभवात्।
स्वतन्त्रं प्रातिपदिकं शाक एव भवाम्यहम् ॥१६॥

अपने ही ऐश्वर्य से पद पद में ओतप्रोत भाव से चमकता हुआ 'शाकरूप' मैं ही स्वतन्त्र प्रातिपदिक बनता हूं।

पद पद का आधार प्रायः प्रातिपदिक बनता है। मूलभूत आधार सभी का आत्मदेव ही है। तद्रूप मैं ही एक मात्र स्वतन्त्र

प्रातिपदिक हूं । अन्य सभी प्रातिपदिक मेरे ही आसरे पर ठहरे हैं ।

शब्दाश्चार्थाश्च सर्वेऽपि शाकेनैकेन पूरिता: ।
तस्मात् सर्वं शाक एव महोऽहमिति निश्चितम् ॥१७॥

सभी शब्द और सभी अर्थ एकमात्र 'शाक' (सकने) से भरे हुए हैं। इस कारण से यह बात निश्चित है कि अहं-प्रकाश रूप केवल एक 'सकना' ही सब कुछ है ।

'सकना' अर्थात् पारमैश्वर्य रूपी सामर्थ्य ही समस्त नाम-रूपात्मक जगत का भरण पोषण करता हुआ सर्वव्यापकभाव से उन सब में ठहरा हुआ है ।

पदे पदे शाक एव काशं स्वं विमृशन् मुहु: ।
अनन्तनामरूपाणि दधामि निजलीलया ॥१८॥

शाकरूप मैं पद पद पर बार बार अपने प्रकाश का विमर्शन करता हुआ अपनी लीला से अनन्त नामों और रूपों को धारण करता हूं ।

उपसर्गो निपातो वा नाम वाख्यातमेव वा ।
अन्तरा शाकभरणं कदाचिदपि न स्फुरेत् ॥१९॥

सकने के द्वारा भरण पोषण किए जाने के विना नाम, क्रिया पद,

उपसर्ग या निपात कभी भी प्रस्फुरित होते ही नहीं।

शक्नोमि शाक एवैकः शाब्दीमार्थीं च भावनाम्।
कर्तुं ज्ञातुं तथा चेष्टुं बिभ्रत् सर्वं स्वशाकतः ॥२०॥

अपने स्वभावभूत 'सकने' से ही सब कुछ धारण करता हुआ 'शाकरूप' मैं ही अकेला शब्दात्मक और अर्थात्मक भावना को कर सकता हूं जान सकता हूं और चाह सकता हूं।

सृष्टिः स्थितिः संहृतिश्च निग्रहोऽनुग्रहोऽपि वा।
यमन्तरा जीवति नो स शाकः केन वर्ण्यताम् ॥२१॥

जिस 'सकने' (सामर्थ्य के बिना सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह रूपी पांच पारमेश्वरीय कृत्य जीवित ही नहीं रहते उस 'सकने' का वर्णन कौन कर सके।

अपने पारमेश्वरीय सामर्थ्य से ही तो परमेश्वर सृष्टि आदि कृत्यों को करता है।

अमृतं सर्वजीवातुरतीतस्तुर्यतां मुहुः।
गाहते त्रिपुटीं स्वस्मिन् शाक उल्लासयन् शिवः ॥२२

शाकरूप परमेश्वर शाश्वत है भाव-अभाव-रूप समस्त विश्व को सत्ता प्रदान करने वाला है और तुर्यादशा से भी परे ठहरा हुआ है वह अपने ही भीतर विश्व को उल्लासित करता हुआ प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय, इस त्रिपुटी की अवस्था को प्राप्त होता है।

यः पश्यन्त्या मध्यमया वैखर्या वक्ति चोच्यते।
परया च परो वाचां सोऽहं शाको महाशिवः ॥२३॥

मैं वही शाकरूप परमशिव हूं जो वाणी से परे ठहरता हुआ भी परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक चारों ही वाणियों के द्वारा बोलता भी है और बोला भी जाता है।

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च लभते यत्र पूर्णताम्।
तत्तुर्यं तदतीतं च शाक एव न संशयः ॥२४॥

जिस अवस्था में विश्रान्त होकर जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीन अवस्थाएं परिपूर्णता को प्राप्त करती हैं वह तुर्या दशा है और उस तुर्या दशा से परे ठहरी हुई तुर्यातीता दशा 'शाक' की, अर्थात् असीम और परिपूर्ण 'सकने' की ही दशा होती है, इस बात में कोई भी सन्देह नहीं।

महाकामेश्वरः शाकः परिपूर्णो महत्तया।
गाहते सर्वभावेन सर्वत्र समदर्शनः ॥२५॥

विश्व के सृष्टि आदि पांच कृत्यों के प्रति सतत-उन्मुख रहने वाली दिव्यातिदिव्य कामना या उमङ्ग के आवेश से भरा हुआ कामेश्वर, 'शाकरूप', परमेश्वर परिपूर्ण है और समदर्शी रहता हुआ अपने ही महत्त्व के प्रभाव से सर्वत्र प्राप्त होता है, अर्थात समस्त अवस्थाओं को अपने में प्रकट करता रहता है।

करोति क्रियते नित्यं जानाति ज्ञायतेऽपि च ।
शाक एको महादेवो महादेवीच्छतीष्यते ।।२६।।

एकमात्र 'शाक' ही परमशिव और पराशक्ति दोनो है और सदैव चाहता भी है और चाहा भी जाता है, जानता भी है और जाना भी जाता है तथा करता भी है और किया भी जाता है।

वस्तुतः सब कुछ के रूप में वह स्वयमेव अपने ही आप में अपनी ही शक्ति से अपने आप ही प्रकट होता रहता है । अतः सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र वही है। ऐसी अद्वैत दृष्टि से सिद्ध जन संसार को देखते हैं।

निगृह्यते निगृह्णात्यनुगृह्णात्यनुगृह्यते ।
एक एव परं तत्त्वं महाकामेश्वरीमहः ।।२७।।

सृष्टि आदि पाँच कृत्यों के प्रति एक दिव्यातिदिव्य उमंग बनी हुई परा शक्ति का तेज ही एक मात्र परतत्त्व है और वही अनुग्रह और निग्रह करता भी है और उसी पर अनुग्रह और निग्रह किए भी जाते हैं।

शब्देऽनुमाने प्रत्यक्षे प्रामाण्यं यदपीष्यते ।
तत् सर्वं शाकमाहात्म्यं तस्माच्छाको महेश्वरः ।।२८।।

शब्द में, अनुमान में ओर प्रत्यक्ष में जो प्रमाणता मानी जाती है वह सब कुछ 'सकने' की महिमा है, इस कारण 'सकना' ही परमेश्वर है ।

मेये माने मातरि च य ओतप्रोतभावतः ।
काशते स महान् काशः शाक एव महेश्वरी ।।२९।।

प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता में जो ओतप्रोत भाव से प्रकाशमान होता रहता है वह महा-प्रकाश पराशक्ति रूप 'शाक' ही है।

पृथिव्यां वर्तमानेषु पुरग्रामगृहादिषु ।
पृथिवीव व्याप्य विश्वं शाकोऽहं सुप्रतिष्ठितः ।।३०।।

जिस प्रकार से पृथिवी के ऊपर विद्यमान नगर, ग्राम, मकान आदि में पृथिवी व्याप्त होकर के रहती है, उसी तरह से समस्त विश्व में व्याप्त होकर के ठहरा हुआ 'शाकरूप' मैं भी सुप्रतिष्ठित हूं।

शाकेन भरितं सर्वं शाकरूपमहम्महः ।
शाकम्भरीति विख्यातं शिवं विजयते परम् ।।३१।।

सब कुछ 'सकने' से ही भरा हुआ है, अतः 'शाकरूप' अहम्प्रकाश शाकम्भरी नाम से विख्यात है । वही परमशिव है और सभी से उत्कृष्ट है। उसी की जयकार की जा रही है।

इति सिद्धसिद्धान्तप्रकरणं नाम
तृतीयमाह्निकम ।

सिद्धसिद्धान्त प्रकरण नाम वाला यह तृतीय आह्निक
पूरा हो गया ।

यहां तक की सभी कारिकाओं की संख्या = ४३

अथ

चतुर्थमाह्निकम्

(गुरुदेवतानुतिप्रकरणम्)

यत्प्रसादादिदं लब्धं रहस्यं पावनं परम् ।
कोपभट्टारकं वन्दे तमनुग्रहविग्रहम् ॥१॥

जिस की कृपा से मैं ने इस परम पावन और परम रहस्यभूत वस्तु को (अर्थात् शाम्भवी योग विद्या को), प्राप्त किया, उस अनुग्रह मूर्त्ति कोपभट्टारक नाम वाले भगवान् दुर्वासा को मैं प्रणाम करता हूं ।

स्वनिर्मितस्तोत्रपाठसन्तुष्टहृदयो मुनिः ।
पूर्णषोडशवर्षं मामकस्मात् करुणार्णवः ॥२॥

प्रत्यक्षं दर्शनं दत्त्वान्वगृह्णाद्दीनवत्सलः ।
उपादिशत् पूर्णयोगं साधनाहृदयं महत् ।।३।।

जब मैं आयु के सोलह वर्ष पूरे कर चुका था तो महामुनि श्रीदुर्वासा के द्वारा रचे हुए स्तोत्र का पाठ करने से उन महामुनि का हृदय मुझ पर सन्तुष्ट हो गया और करुणा के समुद्रतुल्य तथा दीनों से प्यार करने वाले उन्होंने मुझे अकस्मात् ही प्रत्यक्ष दर्शन देकर मुझपर अनुग्रह किया और मुझे भगवत्प्राप्ति की साधना के परम-रहस्यभूत परतर और परिपूर्ण योग का उपदेश किया।

वाक्कामशक्तिमहितं कोटिबालार्कसन्निभम् ।
पापकालानलं बालमिष्टं दैवतमाश्रये ।।४।।

वाग्भव, कामराज और शक्तिबीज रूपी मन्त्रों से उपासित और करोड़ों उदयकालीन सूर्यों के प्रभापुञ्ज के समान उज्ज्वल अरुण कान्ति वाले तथा पापों को भस्म करने के कार्य में प्रलयकाल की आग बने हुए बालास्वरूप इष्टदेवता का मैं आसरा ले रहा हूं।

कोटिविद्युत्प्रतीकाशं फुल्लकल्हारबिन्दुगम् ।
पुस्तमालाभयवरकरं दैवतमाश्रये ।।५।।

करोडों बिजलियों के प्रभापुञ्ज के समान देदीप्यमान, खिले हुए कमल की कर्णिका रूपी केन्द्र में विराजमान और पुस्तक, अक्षमाला,

अभयमुद्रा तथा वरदमुद्रा से विभूषित हाथों वाले इष्टदेव का मैं आसरा ले रहा हूं।

समस्तकल्पनामूलमरुणं करुणाघनम् ।
ललितं कामवरदमिष्टं दैवतमाश्रये ॥६॥

समस्त (तत्वों भुवनों आदि की) कल्पनाओं का मूल कारण बने हुए, अरुण कान्ति वाले, करुणा से भरे हुए, इच्छानुकूल वरदान देने वाले और अत्यन्त मनोहर ललितात्मक इष्ट देव का मैं आसरा ले रहा हूं।

इन तीन श्लोकों द्वारा आचार्य महोदय ने अपनी इष्ट देवी बाला त्रिपुरसुन्दरी का स्मरण, वर्णन और नमस्कार किया है। ललिता नाम से भी उन्हीं की स्तुति की है।

इति गुरुदेवतानुतिप्रकरणं नाम
चतुर्थमाह्निकम् ।

गुरुदेवता प्रणाम नाम वाला यह चौथा आह्निक पूरा हो गया।
यहां तक की सभी कारिकाओं की संख्या=४९

अथ

पञ्चममाह्निकम्

(शाकमहिम-प्रकरणम्)

क्रियायोगो ज्ञानयोग इच्छायोगोऽपि पूर्णताम् ।
यत्र गच्छति योगः स वास्तवो योगपुङ्गवः ।।१।।

वही योग वास्तविक योग है, और वस्तुतः समस्त योगों में श्रेष्ठ है, जिस की स्थिति पर पहुंच करके ही क्रियायोग, ज्ञानयोग और इच्छायोग भी परिपूर्णता को (अर्थात् कृतकृत्यता को) प्राप्त करते हैं। (ऐसे योग को अनुपाययोग कहते हैं)।

न किञ्चित् क्रियते यत्र किमपि ज्ञायते न च ।
इष्यतेऽपि च नो किञ्चित् स योगः परमोऽस्ति नः ।।२।।

हमारा सर्वश्रेष्ठ योग वह योग है जिसमें न तो कुछ करना ही पड़ता है, न कुछ जानना ही पड़ता है और न ही कुछ चाहना पड़ता है; अर्थात् उस योग में चाहना, सोचना समझना और ध्यान लगाना आदि किसी भी साधना के अभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

आस्वाद्य स्वरसां पूर्णां मेलनामिदमहमोः ।
जयाम्यसुलभं शाकममृतं पदमव्ययम् ।।३।।

इदंरूप प्रमेय और अहंरूप प्रमाता के स्वाभाविक और परिपूर्ण अभेदभाव के चमत्कार का आस्वाद ले करके मैं सुदुर्लभ, शाश्वत और विकार रहित 'शाकरूप' पारमेश्वर पद को जीत रहा हूं।

धर्मार्थकाममोक्षाणां चिन्ता यत्र न विद्यते ।
अस्माकं पुरुषार्थः स महान् शाकः परः शिवः ।।४।।

हमारा परम पुरुषार्थ वही असीम 'शाकरूप' परमशिव है जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कोई चिन्ता होती ही नहीं।

सिद्धानां योगिनीनां च पूर्णतामेति मेलनम् ।
यत्र शाकः स भवताद् विजयाय महान् हि नः ।।५।।

वह असीम 'सकना' हमारे लिए परम उत्कर्ष का कारण बने जिसमें सिद्धों और योगिनियों का सम्मिलन पूर्णता को प्राप्त होता है।

ब्राह्मादिशैवान्तवेदा यद्वर्णयितुमक्षमाः ।
रहस्यं मूकतां यान्ति शाके तत् पूर्णमस्ति नः ।।६।।

जिस रहस्य का वर्णन न कर सकते हुए ब्राह्म, वैष्णव, रौद्र, ऐश्वर, सादाशिव, शाक्त और शैव वेद अन्ततो गत्वा मौन हो जाते हैं वह पूर्ण रहस्य हमारे 'सकने' में विद्यमान है।

उपेतार उपाया अप्युपेयानि च सर्वशः ।
अम्भोधौ वीचय इव शाके सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।७।।

सभी उपाय, सभी प्रयोजन और उपायों का प्रयोग करने वाले सभी साधक सब प्रकार से 'सकने' में उसी तरह से प्रतिष्ठित और आश्रित हैं जिस तरह से समुद्र में लहरें विद्यमान हैं।

उपाया आणवाः शाक्ताः शाम्भवा अपि जीवनम् ।
लभन्ते यं समालम्ब्य स शाकः सर्वजीवनम् ।।८।।

वही 'सकना' सभी का जीवन है जिसका आसरा पाकर आणव-उपाय, शाक्त-उपाय और शाम्भव-उपाय जीवन को प्राप्त करते हैं।

ध्यान, धारणा, और उत्कृष्ट प्राणयोग (उच्चार योग) आदि ऐसे उपाय, जिनमें मानसी क्रिया की प्रधानता रहती है, आणव उपाय कहलाते हैं। अपने वास्तविक स्वरूप के सविकल्पक ज्ञान के पुनः पुनः अभ्यासों को शाक्त उपाय कहते हैं। इनमें विकल्पज्ञान के अंश की ही प्रधानता रहती है। अपने वास्तविक स्वरूप में

स्थिरतया ठहरने के अभ्यास को शाम्भव उपाय कहते हैं। इसमें चिन्तन आदि मानसिक क्रियाएं भी शान्त हो जाती हैं और अपने आपका तथा अपने वास्तविक स्वभाव का विकल्पात्मक ज्ञान भी छूट जाता है। हां अपना आप अपने वास्तविक स्वभाव में स्वयमेव चमकता रहता है। तीनों उपायों की विश्रान्ति अर्थात कृतकृत्यता समस्त दिव्य शक्तियों के एक-घन-स्वरूप परिपूर्ण परमेश्वरभाव में ही हुआ करती है।

हेतौ फलं फले हेतुर्द्वयमेकत्र यद्बलात् ।
प्रतीयते तत् समस्तं बलं शाके प्रतिष्ठितम् ।।९।।

वह समस्त सामर्थ्य 'सकने' में प्रतिष्ठित है जिस सामर्थ्य से कोई वस्तु किसी कारण का कार्य बनती हुई और कोई वस्तु किसी कार्य का कारण बनती हुई प्रतीत होती है और जिस सामर्थ्य से कार्य और कारण दोनों ही किसी एक आश्रय में ठहरे हुए प्रतीत होते हैं।

व्यावहारिक कार्यकारण-भाव को ठहराने वाली नियति स्वयं उस शक्तिघन परमेश्वर की ही लीला के बल पर ठहरी हुई है और कारणता तथा कार्यता का भी मूल आधार वही है।

सतोऽसज्जायते विश्वमसतो जायते च सत् ।
यद्बलेन समस्तं तद् बलं शाके प्रतिष्ठितम् ।।१०।।

जिस सामर्थ्य से परमाणुरूप नित्य वस्तु से जगत् रूप अनित्य वस्तु उत्पन्न होती है और जिस सामर्थ्य से अविद्यमान माया तत्त्व

से या अभाव से व्यवहार में विद्यमान जगत उत्पन्न होता है उस सारे के सारे सामर्थ्य की प्रतिष्ठा 'सकने' में विद्यमान है।

नैयायिकों के मत में विद्यमान परमाणुओं से इस अविद्यमान और नश्वर जगत की उत्पत्ति मानी गई है। बौद्धों के मत में अभाव से भावरूप जगत की उत्पत्ति होती है। वेदान्ती अविद्यमान और असत अविद्या से इस व्यावहारिकतया सत्य जगत की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु परमाणु, अभाव, अविद्या आदि भी स्वयं शक्तिघन परिपूर्ण परमेश्वर के बल पर ही ठहरे हैं। अतः स्वयं किसी पर आश्रित हैं, किसी के अधीन हैं और किसी आधार पर ठहरे हैं। वह ऐसा तत्त्व शक्ति-घन परमशिव ही है जिसे सैद्ध दर्शन के अनुसार 'शाक' कहा जाना चाहिए।

अदृष्टं दृष्टवत् सर्वमश्रुतं श्रुतवद्भवेत्
बलेन येन तत् सर्वं बलं शाके प्रतिष्ठितम् ॥११॥

जिस बल से न देखा हुआ सब कुछ देखे हुए की तरह तथा न सुना हुआ सुने हुए की तरह स्फुट प्रतीत हों वह समस्त बल 'सकने' में ठहरा रहता हैं।

सङ्कोचो वा विकासो वा यद्बलात् परिभाष्यते।
प्रतीयते वा तत् सर्वं बलं शाके प्रतिष्ठितम् ॥१२॥

जिस सामर्थ्य के आधार पर अवरोह क्रम में शक्तियों के और स्वरूप के सङ्कोच की तथा आरोह क्रम में शक्तियों के तथा स्वरूप के

विकास की प्रतीति होती है और उसकी परिभाषा भी की जाती है, वह सारा सामर्थ्य 'सकने' में ठहरा हुआ है।

सर्वशक्तिमान परमेश्वर शक्तिघन होता हुआ ही जब जगद्रूपता का आभास करता है तो अपने आपको एक संकुचित जीव के रूप में तथा अपनी शक्तियों को अल्पज्ञता और अल्पकर्तृता के रूप में प्रकट करता है। फिर शक्तिघन होने की महिमा से ही अनुग्रह लीला के द्वारा अपने उस आभासमान संकोच को मिटाता हुआ अपने परिपूर्ण विकास को तथा अपनी शक्तियों के ऐसे विकास को चमकाया करता है। ये संकोच और विकास, सारे ही प्रतिबिम्ब-न्याय से केवल आभासित ही होते रहते हैं और व्यवहार में कहे जाते हैं, वस्तुत: उसके स्वरूप में या स्वभावभूत शक्तियों में कोई भी विकार नहीं आता है।

व्यञ्जनायां लक्षणायामभिधायां च यद् बलम् ।
प्रतीयते स्थाप्यते वा तद्बलं शाकमूलकम् ।।१३।।

व्यञ्जना, लक्षणा और अभिधा में जो सामर्थ्य प्रतीत होता है, या ठहराया जाता है, उस सामर्थ्य का मूल कारण 'सकना' ही है।

तभी तो अन्य शास्त्रों में भी शब्दों के मूल संकेत को ईश्वर की इच्छा से ही होना माना गया है।

विस्मृत्या जाग्रति स्वप्ने स्मृत्या सुप्तेऽनुभूतित: ।
तुर्यायां भूतितश्चैक: शाक एव विराजते ।।१४।।

एक मात्र 'सकना' ही जाग्रत् अवस्था में स्वरूप की विस्मृति के रूप में, स्वप्न में उस की स्मृति के रूप में, सुषुप्ति दशा में उसकी अनुभूति के रूप में और तुर्या दशा मे उसकी भूति अर्थात् विद्यमानता के रूप में विराजमान होता रहता है।

तुर्या स्वरूपस्थिति की दशा है। वहां प्राणी की शुद्ध चिद्रूपता और उसकी पारमेश्वरी शक्ति स्वयमेव चमकती रहती है। सुषुप्ति का आभास तुर्या के पश्चात (अनु) होता है क्योंकि तुर्या में ज्यों ही संकोच का आभास हो जाता है त्यों ही चिद्रूप आत्मा केवल साक्षीरूपतया ठहरा हुआ प्रमाण, प्रमेय आदि प्रपञ्च के अभाव का अनुभव करता रहता है। अतः वह स्वरूप की अनुभूति—संकोच के पश्चात् होने वाली स्थिति है। स्वप्न में चिद्रूपता की महिमा की स्मृति सी होती है, तभी तो प्राणी में वहां अपनी स्वतन्त्रता मानो जाग सी पड़ती है और ज्ञान क्रिया के सामर्थ्य में विकास सा आ जाता है, परन्तु स्वतन्त्रता का स्फुट साक्षात्कार नहीं होता है; वैसा धीमा सा साक्षात्कार होता है जैसा विषय आभास स्मृति में हुआ करता है। जाग्रत् अवस्था में प्राणी चिद्रूपता को सर्वथा भूल कर जड़ शरीर को ही अपना आप समझता रहता है। अतः जाग्रत् अवस्था स्वरूप की अत्यन्त विस्मृति की अवस्था है।

यमैश्च नियमैर्नित्यं चासनैः प्राणसंयमैः ।
प्रत्याहारैर्धारणाभिर्ध्यानैश्च समाधिना ॥१५॥
यस्य लाभाय मुनय ऋषयः संशितव्रताः ।
प्रयतन्ते महान् देवः स्वभावः शाक एव सः ॥१६॥

यमों, नियमों, आसनों, प्राणायामों, प्रत्याहारों और धारणाओं से तथा ध्यान और समाधि के द्वारा जिसकी प्राप्ति के लिए तीव्र-व्रतधारी ऋषि और मुनि यत्न करते रहते हैं, वह सभी देवताओं का महादेव तो सभी का वास्तविक स्वभाव भूत 'सकना' ही है।

ऋषि मुनि योगसाधनाओं से अपने परमेश्वरतात्मक शक्तिघन स्वभाव की ही तो खोज करते रहते हैं।

यदुपादेयतां नैव गाहते नैव हेयताम् ।
स्वयं सिद्धं परं तत्त्वं स्वभावः शाक एव सः ।।१७।।

जो स्वयं सिद्ध तत्त्व न तो ग्राह्य ही बनता है और न त्याज्य ही बनता है वह परमतत्त्व सभी का वास्तविक स्वभावभूत 'सकना' ही है।

ग्राह्य वह वस्तु बन सकती है जो अप्राप्त हो। स्वभाव अपना भाव होता है। वह कभी अप्राप्त नहीं होता। फिर स्वभाव अपना भाव बना हुआ सदैव अपने में रहता ही है। अतः उसका परित्याग किया ही नहीं जाता है। हां उसे हम भूल गए हैं। अतः उसे फिर से पहचानना होता है। उसे पहचान लेने में ही परम चमत्कार भरा रहता है।

प्रशस्ताः करणेश्वर्यो देवतां पूजयन्ति याम् ।
ऐकायनेन निश्चेष्टाः शाको नः सास्ति देवता ।।१८।।

प्रशस्त इन्द्रिय-देवियां बहिर्मुखी चेष्टाएं छोड़ कर ऐकायन नामक

ज्ञानयोग के द्वारा जिस देवता की पूजा करती हैं, वह देवता हमारा 'सकना' ही है।

इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करता हुआ ज्ञानयोगी इस प्रकार से भावना करता है कि इन्द्रियों की अधिष्ठातृ देवियां विषय-रूपी आहुतियों को चेतना रूपी चमस से संवितस्वरूप स्वात्म अग्नि में स्वाहा करती हुई समस्त शक्तियों के एकघनस्वरूप परब्रह्मात्मक आनन्दभैरव को तृप्त करती रहती हैं। ऐसे ज्ञानयोगात्मक होम का वर्णन इस कारिका में किया गया है।

अष्टौ वाग्देवता अष्टौ सिद्धयो निधयो नव ।
यमालम्ब्यैव जीवन्ति स शाको विजयाय नः ॥१९॥

जिसका आसरा लेकर ही वाणी की आठ देवियां, आठ सिद्धियां और नौ निधियां जीवन को प्राप्त करती हैं वह 'सकना' ही हमें परम उत्कर्ष दे रहा है।

वर्णमाला के अवर्ग से लेकर शवर्ग तक के आठ वर्गों की आठ 'वशिनी' आदि आगमिक देवियां वाणी की आठ देवियां होती हैं।

आदित्या द्वादश तथा रुद्रा एकादशापि च ।
वसवोऽष्टावपि सदा शाकमेवाश्रयन्त्यहो ॥२०॥

आश्चर्य है कि बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र और आठ वसु भी सदा 'सकने' का ही आसरा लेते रहते हैं।

ये सभी देवगण तो शक्तिरूप 'सकने' ही की महिमा से अपने अपने अधिकारों को निभाते रहते हैं।

शिवादिक्षितिपर्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वदेवताः ।
यजन्ते पूर्णयोगेन मुनयः शाकमेव नः ॥२१॥

शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक के छत्तीस तत्त्वों के अधिष्ठातृदेवताओं का पूर्णयोग द्वारा जो यजन मुनिजन करते हैं वह यजन वस्तुतः हमारे 'सकने' का ही होता है ।

सभी तत्त्व और सभी तत्त्वेश्वर देवता परब्रह्म की शक्ति के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं । अतः उनका यजन भी वस्तुतः शक्तिघन परब्रह्म ही का यजन होता है ।

इति शाकमहिमप्रकरणं नाम
पञ्चममाह्निकं सम्पूर्णम् ।
यह शाकमहिमा नाम का पांचवां प्रकरण पूरा हो गया ।
यहां तक की सभी कारिकाओं की संख्या = ७०

— — —

अथ

षष्ठमाह्निकम्

(सैद्धयोगप्रकरणम्)

विधाय भूतशुद्ध्यादि षोढान्यासपवित्रिताः ।
यजन्ते मन्त्रयोगेन मुनयः शाकमेव नः ॥१॥

भूत शुद्धि करके मन्त्राक्षरों के छः प्रकार के न्यास से पवित्र बने हुए मुनिजन मन्त्रयोग से उसी की अर्चना करते हैं जिसे हम 'शाक' या 'सकना कहते हैं ।

आगमिक उपासना में जो छः प्रकार के न्यास किए जाते हैं उन्हें (१) गणेश न्यास, (२) ग्रहन्यास, (३) नक्षत्रन्यास, (४) योगिनीन्यास, (५) राशिन्यास और (६) पीठन्यास कहते हैं ।

पिधाय कर्णकुहरे तर्जनीभ्यां गुहादिषु ।
नादयोगेन सेवन्ते मुनयः शाकमेव नः ॥२॥

गुफा आदि एकान्त और निःशब्द स्थान में अपनी दो तर्जनियों के द्वारा अपने दोनों कर्णछिद्रों को बन्द करके किए जाने वाले नादयोग के अभ्यास से मुनिजन हमारे 'सकने' की ही सेवा करते हैं।

दीपज्योतिषि निर्वाते बिन्दौ वा भित्तिलाञ्छिते ।
केचित् त्राटकयोगेन शाकं प्रत्यभिजानते ॥३॥

निर्वात स्थान पर निश्चलतया चमकती हुई दीपक की ज्योति पर अथवा दीवार पर अङ्कित किए हुए बिन्दु पर दृष्टि जमा कर त्राटक योग के द्वारा कोई योगी महानुभाव 'सकने' की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) को प्राप्त करते हैं; अर्थात् अपने आप को शक्तिघन चिद्रूपता में पहचान लेते हैं।

पद्मासनमधिष्ठाय मुद्रामालम्ब्य षण्मुखीम् ।
केचित् प्राणनिरोधेन भजन्ते शाकमेव नः ॥४॥

पद्मासन लगाकर और षण्मुखी मुद्रा का आसरा लेकर कोई लोग प्राणों को रोक कर रखने के अभ्यास के द्वारा हमारे 'सकने' का ही भजन करते हैं।

दोनों हाथों के अंगूठों, कनिष्ठिकाओं और अनामिकाओं के द्वारा क्रम से कर्णछिद्रों को, नासाछिद्रों को और नेत्रों को दबाए

रखते हुए शेष दो-दो अंगुलियों को माथे पर जमाकर रखने से षण्मुखी मुद्रा बनती है ।

केचित् कपालकुहरं खेचर्यापूर्य जिह्वया ।
सोमपीयूषपानेन यजन्ते शाकमेव नः ।।५।।

कोई लोग खेचरी मुद्रा में ऊपर की ओर सञ्चार करने वाली अपनी जिह्वा से अपने मस्तिष्क की ओर जाने वाले छिद्र को भरकर (शतदल कमल में स्थित) चन्द्रमण्डल से टपकने वाले अमृत का पान करने से हमारे 'सकने' का ही यजन करते हैं ।

आपाद्य पञ्चतां केचित् प्रपञ्चं लययोगतः ।
कारणात् कारणे लीनाः शाकमेवाश्रयन्ति नः ।।६।।

कोई लोग लययोग के द्वारा प्रपञ्च को अपने में विलीन करके फिर स्वयमपि परम्परा से कारण तत्त्वों से उनके भी कारण तत्त्वों में विलीन हो होकर अन्त में हमारे 'सकने' में ही आश्रय, अर्थात् विश्रान्ति लेते हैं ।

अन्ततोगत्वा सारी की सारी कारण परम्परा का मूल कारण तो परमेश्वर ही है जिसका वास्तविक स्वरूप परिपूर्ण शक्ति (सकना) ही है ।

योषिता मिथुनीभूता विरलाः साधकाः पुनः ।
वज्रोल्या वज्रसाराङ्गा भजन्ते शाकमेव नः ।।७।।

कोई विरले ही साधक तो स्त्री के साथ मिथुन बनकर बज्रोली क्रिया के अभ्यास के द्वारा अपने शरीर को वज्रसार जैसा सुदृढ बना कर 'सकने' का भजन करते हैं।

वज्रोली एक हठ योग की क्रिया होती है। उस क्रिया को कर सकने वाले साधक वर्तमान युग में प्रायः नहीं मिलते। अतः उस पर विशेष प्रकाश डालने में कोई प्रयोजन नहीं। वज्रोली जैसी क्रियाओं का भी अन्तिम प्रयोजन अपनी शक्तिघनता का साक्षात्कार ही है।

ये पञ्चभिर्महायज्ञैर्यजन्ते विश्वदेवताः।
पर्यन्ते तेऽपि लीयन्ते शाक एव न संशयः ॥८॥

जो महानुभाव श्रुति-स्मृति द्वारा उपदिष्ट पांच महायज्ञों के द्वारा विश्वेदेवों का यजन करते हैं, इसमें कोई भी सन्देह नहीं, कि अन्त में वे भी 'सकने' में ही विलीन हो जाते हैं।

पंच महायज्ञों के द्वारा देवताओं, ऋषियों, पितरों, मनुष्यों और भूतों को तृप्त करने वाले वर्णाश्रम-धर्म के उपासक पितृयान गति से स्वर्ग सुखों का भोग करते हैं और देवयान गति से उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रगति करते हुए अन्ततोगत्वा ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। ब्रह्म का स्वरूप ही समस्त दिव्य शक्तियों का एकघन तत्त्व है। उसी दशा को वे प्राप्त हो जाते हैं।

विस्मृतावाणवः स्मृत्या शाक्तः शाम्भव इष्यते।
अनुभूत्यां शाक एवोपायरूपः परः शिवः ॥९॥

परमशिवात्मक 'सकना' ही विस्मृति का शमन करने के लिए उसमें आणव-उपायरूप, स्मृति में इसी प्रकार से शाक्त उपाय रूप और अनुभूति मे वैसे ही शाम्भव-उपाय रूप माना जाता है।

आणव उपाय भेदमय समस्त प्रमेय विषयों को भावना के द्वारा परिपूर्ण परमशिव के रूप में ही देखने के अभ्यास को कहते हैं। इसके द्वारा स्वरूप विस्मृति की दशा में स्वरूप की पुनः स्मृति हो जाती है। स्मृति के जाग पड़ने पर शाक्त उपाय का आश्रय लिया जाता है। शाक्त उपाय अपने वास्तविक स्वरूप के सविकल्प बौद्ध ज्ञान के ही पुनः पुनः अभ्यास को कहते हैं। इसके अभ्यास से स्वरूप की साक्षात् अनुभूति हो जाती है। वैसा होने पर शाम्भव उपाय के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिरतया स्थिति हो जाती है। शाम्भव उपाय में मन के समस्त संकल्प विकल्पों को शान्त करके अपने वास्तविक स्वरूप में, अर्थात् शुद्ध तया शक्तिघन चैतन्य में, स्थिरतया ठहरने का अभ्यास किया जाता है।

उपायमन्तरेणैव भूतौ साक्षाद् भवाम्यहम् ।
अभिनन्दन् बलं स्वस्य महान् शाकः परः शिवः ॥१०॥

भूति, अर्थात् शुद्ध सत्ता की अवस्था में असीम, शाकरूप, परमशिवात्मक होता हुआ मैं विना किसी उपाय के ही अपने बल का अभिनन्दन करता हुआ साक्षात् अवस्थित रहता हूं।

शाम्भव उपाय का अभ्यास जब परिपक्व हो जाता है तो विना किसी भी अभ्यास के स्वयमेव चिद्रूप 'शाकतत्त्व' में स्थिरतया

स्थिति बनी ही रहती है। इस स्थिति को अनुपाय स्थिति कहते हैं। इस स्थिति में पारमेश्वरी पराशक्ति की अपने आप में विद्य-मानता के साक्षात् विमर्शन से वह स्थिति परम-आनन्दमयी बनी रहती है। अपनी उस शक्ति के वैसे विमर्शन को ही अपने बल का अभिनन्दन कहा गया है।

पञ्चम्या प्रत्यभिज्ञानं शाकस्य सुदृढं महत् ।
भवतीति यजन्ते ते पञ्चम्यां पञ्चमीप्रियाः ॥११॥

रहस्यात्मक प्रक्रिया के अनुसार पांच मकारों के प्रयोग के अभ्यास के द्वारा 'सकने' का अतीव सुदृढ प्रत्यभिज्ञान होता है। इसी लिए तो पञ्च-मकारों में रुचि रखने वाले विरले साधक उन पंच मकारों के प्रयोग के अभ्यास के भीतर ही 'सकने' का यजन करते रहते हैं।

ऐसी साधना अतीव रहस्यमयी होती है। प्राचीन युगों में लाखों में से कोई एक इस साधना का अधिकारी होता था। आजकल के युग में इसका अधिकारी अत्यन्त ही दुर्लभ होता है। इस पंचमकारमयी साधना के द्वारा अपनी आनन्दशक्ति को उद्बुद्ध करके उसी को द्वार बनाते हुए परिपूर्ण आनन्दघन परमेश्वरता की स्थिति में प्रवेश किया जा सकता है। अतः यह साधनामार्ग त्वरित गति से एक साथ ही भोग और मोक्ष इन दोनों फलों को दे सकता है, यदि इस मार्ग का कोई अधिकारी हो।

पञ्चानां मकाराणां समाहारः पञ्चमी, तस्यां पञ्चम्यां स्थितः पञ्चमीप्रियाः पञ्चम्या—पञ्चमकारैर्यजन्ते इत्यन्वयः।

पञ्चानामपि कोशानां काशतेऽन्तर्बहिश्च यः।
शाकं ब्रह्मेति तं केचिद् बृहत्त्वात् समुपासते ॥१२॥

जो 'सकना' पांचों कोशों के भीतर भी और बाहिर भी प्रकाशमान होता है उस सकने को कुछ महानुभाव बृहत् अर्थात् सर्व-व्यापक होने के कारण ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं।

चतुर्विधापि वाग्वक्तुं यमालम्ब्यैव शक्नुते।
अतीतमपि वाग्रूपं शाकं वागित्युपासते ॥१३॥

जिसका आसरा लेकर के ही चार प्रकार की वाणी अर्थ का विमर्शन कर सकती है वह 'सकना' यद्यपि वाणी से अतीत है, फिर भी उसे वाग्रूप (विमर्शात्मक) मान करके ही उसकी उपासना की जाती है।

बोल चाल की ध्वन्यात्मक वाणी को वैखरी कहते हैं। सोच विचार की विचारात्मक वाणी मध्यमा कहलाती है। भेदाभेदमय शुद्धविद्यामय विमर्श को पश्यन्ती वाणी कहा जाता है। अपने विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय स्वरूप के स्वतः विमर्शन को परावाणी कहते हैं। उस परावाणी के रूप में परमेश्वररूपी शाक तत्त्व की उपासना की जाती है यद्यपि वह भेदमयी वाणी का विषय है ही नहीं।

वहन्तं सहजं प्राणमपानग्रासपेशलम् ।
युञ्जन्ति केचित् स्वरसात् शाके भूतिदिदृक्षया ।।१४।।

कोई महानुभाव अपने आनन्द से ही अपनी शुद्ध सत्ता की विभूति को देखने की इच्छा से अपान का ग्रास करने में चतुर और अपने स्वभाव से ही प्रवहणशील बने हुए प्राण का 'सकने' में लय करने का अभ्यास करते हैं ।

इस तरह से उनके अपान का लय प्राण में हो जाता है और उस प्राण का भी लय शक्तिघन संवित् में हो जाने पर एक मात्र वह संवित् ही सर्वत्र चमक उठती है ।

हंसवागीश्वरीं केचित् सन्ततं स्वैरचारिणीम् ।
सेवन्ते मध्यमार्गस्था युक्त्या शाकपरीप्सया ।।१५।।

'सकने' की प्राप्ति की इच्छा से कोई लोग युक्ति से मध्यम मार्ग में, अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में, ठहर कर लगातार स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करने वाली अजपात्मिका हंसवागीश्वरी की सेवा करते हैं ।

पश्यन्ति युक्त्या प्रणवमुद्गतं प्राणमूलतः ।
दीर्घदीर्घतमं केचित् शाकदर्शनलालसाः ।।१६।।

'सकने' के साक्षात्कार के लिए उत्सुक बने हुए कोई लोग प्राणशक्ति के मूलस्थान से उठे हुए और उत्तरोत्तर दीर्घदीर्घतर स्वर वाले ॐकार का युक्ति के द्वारा अनुभव करते हैं ।

सकलां निष्कलां कामकलां केचित् कपालिनीम् ।
कलयन्ते कुलाचारयुक्त्या शाकरिरंसया ॥१७॥

'सकने' में रमण करने की इच्छा से कोई साधक ब्रह्मा आदि कारणों का पालन करने वाली, कपाल धारिणी, ककार-लकार सहिता और ककार-लकार-रहिता, बीजाक्षरमयी भगवती कामकला की कलना कुलाचार की युक्ति के द्वारा करते हैं ।

क=ब्रह्मा, तस्य पालिनीं कपालिनीम् । उपलक्षणतो ब्रह्मादि-कारणपञ्चक-पालन-कर्त्रीम् । ककारलकारसहितां सकलाम्, तद्रहितां निष्कलाम् ।

अनुस्वार युक्त चतुर्थ वर्ण ही कामकला बीज है । वही निष्कल है । ककार लकार के जुड़ जाने से वही सकल भी बन जाता है । दोनों रूपों में उसकी उपासना की जाती है जिससे अनेकों फलों की प्राप्ति होती है ।

कुलीनाः केऽपि कल्पन्ते कुलवागीश्वरीं कुले ।
कुमारीं भावयन्तोऽपि शाकभूतिनिदर्शने ॥१८॥

पृथ्वी पर जीवभाव को प्राप्त हुए कुछ साधक 'सकने' की शुद्ध सत्ता को पूरी तरह से देखने के लिए कुण्डलिनी भगवती की भावना करते हुए भी षट्चक्र-मार्ग में कुलवागीश्वरी देवी की कल्पना करते रहते हैं ।

तत्त्वत्रयं शाकवह्नावात्मविद्याशिवाभिधम् ।
हुत्वा सतुर्यं चातुर्यात् संपिबामि महामृतम् ॥१९॥

आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व नामक तीन महातत्त्वों को तुर्यादशा वाले समष्टितत्त्व नामक चौथे तत्त्व समेत 'सकने' की होम-अग्नि में आहुति के रूप में स्वाहा करके मैं तुर्यातीतपद से प्राप्त होने वाले परम-अमृत का पान कर रहा हूं ।

त्रितत्त्व कल्पना में पृथ्वी से लेकर माया तत्त्व तक का जड प्रपञ्च आत्मतत्त्व कहलाता है। फिर शुद्ध विद्या तत्त्व से लेकर सदाशिव तत्त्व तक के शुद्ध प्रपञ्च को विद्यातत्त्व कहते हैं । तुर्या के शिखर पर स्थित शक्ति और शिव तत्त्वों को तीसरा तत्त्व कहते हैं। इन तीनों का आभास जिसके भीतर हुआ करता है वह तुरीय तत्त्व समष्टि तत्त्व कहलाता है । साधारणतया तत्त्वगणना यहीं तक है। परन्तु सिद्धजनों की दृष्टि में उस तुरीय तत्त्व के विषय में भी जहां उपदेश आदि किया जाता है और उपासना में जहां वह भी भावना का विषय बनता है, वहां इस समस्त शुद्धतर व्यापार का भी जो साक्षी होता है वही वस्तुतः तुर्यातीत सत्य है । उसी सत्यपद पर ठहरे रहना एक अनुपम और अवर्णनीय आत्म आनन्द की दशा है जिसका अमृतमय आस्वाद शास्त्रकार ले रहे हैं।

भवाभवे चातिभवं विमृश्य स्वप्रकाशतः ।
स्वात्मानमभिनन्दामि महाशाको महाबलः ॥२०॥

असीम सामर्थ्य युक्त और असीम 'सकना'—स्वरूप मैं माया दशा और विद्यादशा में अपने ही प्रकाश से शक्ति दशा का विमर्शन करके अपने आप का ही अभिनन्दन कर रहा हूं।

सैद्धदर्शन में भव माया दशा को, अभव विद्या दशा को और अतिभव शक्ति दशा को कहा जाता है। अपने आप का परम-आनन्दमय चमत्कारात्मक विमर्शन ही अपना अभिनन्दन होता है। कृतकृत्यता रूपी अपूर्व सन्तोष उसमें अभिव्यक्त होता है।

पद्मासनमधिष्ठाय समसर्वाङ्गविग्रहम् ।
परस्परोपरिधृतौ करौ कृत्वाङ्कगावुभौ ॥२१॥
निवातदीपवत्तिष्ठन् क्रियाज्ञानैषणाः समाः ।
अगृह्णन्नत्यजन् नित्यं स्वात्मानं शम्भुमीक्षते ॥२२॥

पद्मासन में ठहर कर, शरीर के सभी अङ्गों को समभाव में सीधे ठहरा कर, एक दूसरे के ऊपर रखे हुए दोनों हाथों को (हथेलियां ऊपर किए हुए) गोद में ठहरा कर, निर्वात स्थान पर जलती हुई दीपज्योति की तरह निश्चल बैठा हुआ, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, इन सभी का न ही उपादान और न ही परित्याग करता हुआ और इस प्रकार से स्थिर तथा निश्चल ठहरता हुआ साधक नित्य आत्मरूप परमशिव का साक्षात्कार लगातार करता रहता है।

जब इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों ही शान्त हो जाती हैं और अन्तःकरण निश्चल ठहरे रहते हैं तो सारे संकल्प-विकल्पों के शान्त

हो जाने पर आत्मदेव अपने ही चित्प्रकाश से स्वयमेव चमकता हुआ अपने ही आप का अपने ही आप साक्षात्कार करता रहता है। किसी उपाय के अभ्यास को किए बिना ही स्वयमेव आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

महाराजाधिराजोऽयं योगानामुत्तमोत्तमः।
स्वशाकप्रत्यभिज्ञाने महाशाको न संशयः ॥३३॥

उत्कृष्ट योगो में भी सर्वोत्तम यह योग राजयोगों में भी महाराजाधिराज योग है और इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि यह योग स्वात्मरूप 'सकने' की प्रत्यभिज्ञा को प्राप्त कराने में महाशक्ति स्वरूप है।

तात्पर्य यह है कि इस योग के अभ्यास से साधक अवश्य ही समस्त दिव्य शक्तियों के एकघन स्वरूप अपने वास्तविक आप को पहचान कर के पूरी तरह से कृतकृत्य हो जाता है। अतः यह योग सर्वोत्तम राजयोग है। सिद्धों की परिभाषा में इसे सर्वोत्कृष्ट प्रकार का शाम्भव योग कहा जाता है।

इति सैद्धयोगप्रकरण नाम
षष्ठमाह्निकम्।
सैद्धयोगप्रकरण नाम का यह छठा आह्निक पूरा हो गया।
यहां तक की सभी कारिकाओं की सख्या=९३

अथ

सप्तममाह्निकम्

(दिव्यदर्शनप्रकरणम्)

लालितोऽनेन योगेन पूर्णाहम्भावमाश्रितः ।
दृष्टानि दिव्यदृश्यानि कानिचिद्वर्णयाम्यहम् ॥१॥

इस महाराजाधिराज योग से लालनपालन प्राप्त करके और परिपूर्ण अहम्भाव का आसरा लेकर के मुझे जो जो दिव्यदर्शन प्राप्त हुए उनमें से कुछ एक का वर्णन मैं यहां कर रहा हूं ।

तिस्रः स्त्रियो दात्रहस्ताः पुरुषो वेणुवादनः ।
हिमालयोपत्यकायां वने विस्मृत-मार्गकम् ॥२॥

मां मार्गं सम्प्रदर्श्यैव शम्पेव क्वाप्यलक्ष्यताम् ।
गता नमामि ताः स्मृत्वा करुणाकरदेवताः ।।३।।

हिमालय पर्वत की उपत्यका में जब मैं वन में मार्ग भूलकर भटकता रहा तो वहां हाथों में द्रान्तियां ली हुई तीन स्त्रियां और बांसुरी बजाने वाला एक पुरुष मुझे मार्ग दिखाकर ही बिजली की तरह (क्षणों में ही) कहीं अदृश्य हो गए । उन करुणाकर देवताओं का स्मरण करके मैं उन्हें प्रणाम करता हूं।

महाधिपमिते वर्षे मार्गे पूर्णगिरेर्वने ।
वृत्तं वृत्तं तपोदर्शे विस्मयोत्पादकं महत् ।।४।।

विक्रम संवत् १९८५ में माघ मास की अमावस्या के दिन यह परम आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली घटना पूर्णगिरि (पुन्ना गिरि, जि. नैनीताल) के वन में मार्ग में घटित हुई ।

दिव्यरम्भागभकान्ति रम्भास्तम्भोपमं महत् ।
आपादकटिपर्यन्तमाश्लिष्टं यत् परस्परम् ।।५।।

अलक्ष्योत्तुङ्गतं लम्बकुन्तलाग्रलसत्कटि ।
धरित्र्याकाशयोर्मध्ये मिथुनीभूय संस्थितम् ।।६।।

अप्रतर्क्यपरीणाहं दृश्यजानुपदाम्बुजम् ।
ज्योतिर्लिङ्गमिदं दिव्यं कट्यूर्ध्वं दृगगोचरम् ।।७।।

अत्यद्भुतं चतुष्पादमारक्तस्फटिकाङ्गुलि ।
दृष्टवानमरेशस्य गुहायां लोमहर्षणम् ॥८॥

श्री अमरनाथ जी की गुफा के भीतर मैंने एक अतिविचित्र, रामोञ्चकारी और दिव्यातिदिव्य ज्योतिर्लिङ्ग के दर्शन पाये । उस ज्योतिर्लिङ्ग की कान्ति नन्दनवन की कदली के गर्भ के समान गौर थी । वह था भी एक सुविशाल कदली स्तम्भ जैसा (ऊचा) । आकाश और पृथ्वी के भीतर व्याप्त हो कर युगलात्मक बनकर खड़ा था । उसकी ऊंचाई का कुछ पता नहीं लगता था । लम्बे लम्बे केशों के अग्रभागों से उसका कटि प्रदेश शोभायमान बन रहा था । पैरों से लेकर कमर तक परस्पर आलिङ्गित था । उसकी विशालता का अनुमान कुछ लगता नहीं था । घुटने और चरण-कमल ही स्पष्ट दीख रहे थे । कमर से ऊपर दृष्टि नहीं जाती थी । उसके चार पैर थे । लाल रंग की छाया से युक्त स्फटिक मणि की जैसी कान्ति वाली उसके पैरों की अंगुलियां थीं । उस दृश्य को देखते हुए रोम हर्ष होता था ।

दक्षिणे मम पूर्वस्यां दिश्यासीत् परमः पुमान् ।
मम वामे पश्चिमायां तस्यासीत् प्रकृतिः परा ॥९॥

मेरे दाएं हाथ की ओर, पूर्व दिशा में परम पुरुष (श्री अमरेश्वर) थे और मेरे बाएं हाथ की ओर, पश्चिम दिशा में उनकी परा प्रकृति देवी थीं ।

भयविस्मयविभ्रान्तो मुहूर्त्तं मौनमास्थितः ।
विस्मृत्योपाविशं सर्वं जगत् प्रश्यन्नहं चिरम् ।।१०।।

मुहूर्त्त भर के लिए भय और विस्मय से विभ्रान्त होकर मैं मौन मुद्रा में समस्त विश्व को भूल करके चिरकाल तक इस दिव्य दृश्य को देखता हुआ वहीं बैठा रहा ।

कोपभट्टारकप्रोक्तसाधनाहृदयाम्बुधौ ।
निमज्जन् दृष्टवान् शाकं सोऽहं शाको महाशिवः ।।११।।

परमशिवात्मक उस 'शाकस्वरूप' मैं ने भगवान् दुर्वासा द्वारा बताए हुए साधनारहस्यरूपी समुद्र में निमग्न होते हुए इस 'शाकात्मक' दृश्य को देखा ।

नभःशुक्लचतुर्दश्यां वृत्तं सोमदिने दिवा ।
वैक्रमेऽब्दे दृष्टमिदं चिदाधिपस्मिते गते ।।१२।।

इस घटना को मैं ने वि० स० १९८६ में श्रावण के शुक्ल पक्ष की दिवाचतुर्दशी तिथि को सोमवार के दिन देखा ।

श्वेतरक्त-श्यामशारिपक्षित्रितयरूपिणी ।
शारदाम्बा येन दृष्टा सोऽहं शाकः परः शिवः ।।१३।।

मैं वह परमशिवात्मक 'सकना' हूं जिसने सफेद, लाल और सांवले वर्ण के तीन सारिका पक्षियों के रूप में भगवती शारदा माता के दर्शन पाये ।

दिव्यवर्षसहस्रान्ते श्रीशाण्डिल्यमहर्षिणा ।
दृष्टमस्ति पुरा रूपं मया तन्नवभिर्दिनैः ॥१४॥

(शारदा देवी के) जिस रूप को प्राचीनकाल में दिव्य सहस्र वर्ष तप करके महर्षि शाण्डिल्य मुनि ने देखा था, उसको मैं ने नौ दिन में देख लिया ।

चिदाधिपमिते वर्षे शारदामन्दिराङ्गणे ।
नवम्यामाश्विने शुक्ले वृत्तं वृत्तमिदं दिवा ॥१५॥

१६८६ में आश्विन शुक्ल पक्ष की नवमी को दिन के समय शारदा देवी के मन्दिर के आंगन में यह घटना घटित हुई ।

शैलपुत्रीस्थलेऽसंख्यकोटिब्रह्माण्डबुद्बुदम् ।
साक्षात्कृतं शाकरूपं महाशब्दार्थमद्भुतम् ॥१६॥

भगवती शैलपुत्री के स्थान में मैं ने 'सकने' का वह अदभुत रूप देखा जिस में असंख्य कोटि ब्रह्माण्ड बुलबुलों की तरह प्रकट हुए और जो बड़े-बड़े विचित्र शब्दों और अर्थों से युक्त था;

विचित्रगतिशब्दार्था यत्र लोकाः सहस्रशः ।
सन्ति येष्वप्यनेकेषु कायोऽयमवलोकितः ॥१७॥

जिस में विचित्र ढंग की गतियों, शब्दों और अर्थों से युक्त सहस्रों

लोक ऐसे थे जिन में से कई एक के भीतर मैंने अपने वर्तमान जन्म के इस शरीर को भी देख लिया।

अस्मि सोऽहं परशिवः पिबता स्वरसासवम्।
नीतं यामत्रयं येन निमेषसदृशं दृशौ ॥१८॥

मैं वह परमेश्वर हूं जिसने आत्म-आनन्द की मदिरा का पान करते हुए रात के तीनों पहर (इस दिव्य दृश्य को देखते देखते) आंख के एक निमेष की तरह बिताए।

चिदाधिपमिते वर्षे दशम्यां कार्तिके सिते।
वराहमूले काश्मीरे वृत्तं वृत्तमिदं निशि ॥१९॥

विक्रम संवत् १९८६ में कार्तिक शुक्लपक्ष की दशमी को कश्मीर देश में बारामुला स्थान पर रात के समय यह घटना घटित हुई।

विद्युच्छश्यग्निसूर्येभ्योऽप्यधिकं शान्तभास्वरम्।
मार्तण्डभवने दृष्टं शाकरूपं तदस्म्यहम् ॥२०॥

मार्तण्डभवन (मट्टन) में मैं ने बिजली, चन्द्रमा, अग्नि और सूर्य से भी अधिक जिस देदीप्यमान और शान्त 'सकने' के रूप को देखा वह मैं स्वयं हूं।

सिते दशम्यां तपसि चिदाधिपमिते गते ।
वैक्रमेऽब्दे वृत्तमिदं द्वितीये प्रहरे निशि ॥२१॥

वि, सं. १९८६ में माघ महीने के शुक्ल पक्ष की दशमीं को रात के दूसरे पहर में यह घटना घटित हुई ।

कोशाः पञ्चापि महिता येन साक्षात्कृताः स्वयम् ।
स्थले कार्कोटनागाख्ये स शाकोऽहं परः शिवः ॥२२॥

मैं वह परमशिवात्मक 'सकना' हूं जिसने कार्कोटनाग के स्थान पर वेदान्तियों के द्वारा पूजित पांचों कोशों को स्वयं देख लिया ।

पञ्चम्यां चैत्रशुक्लस्य सिंहाधिपमिते गते ।
वैक्रमेऽब्दे वृत्तमिदं पूर्वाह्णे विस्मयावहम् ॥२३॥

विक्रम संवत् १९८७ में चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी तिथि को प्रातःकाल के समय यह आश्चर्य जनक घटना घटित हुई ।

मायाकुण्डलिनीपद्मरहस्यं शून्यवेश्मनि ।
स्वेच्छया कृपयादिश्य गतं काममलक्ष्यताम् ॥२५॥

नरं काश्मीरकाकारं मिलितं शारिकाजिरे ।
श्रीपुरे शिवजीत्याख्यं सिद्धं कञ्चन नौम्यहम् ॥२५॥

श्रीनगर में शारिका भगवती के आंगन में मिले हुए, आकार

कश्मीरी प्रतीत होने वाले और शिवजी नाम वाले किसी उस सिद्ध-पुरुष को मैं प्रणाम करता हूं जिसने स्वयमेव कृपा करके और किसी शून्य घर में मुझे लेजा कर के वहां 'मायाकुण्डलिनी' पद्य का दार्शनिक और साधनात्मक रहस्य बताया और जो पश्चात् पता नहीं कहां अदृश्य हो गया।

सिंहाधिपमिते वर्षे भाद्रमासे सिते दले।
वृत्तमेतच्छ्रीनगरे वृत्तमाश्चर्यकारकम् ॥२६॥

यह विस्मय जनक घटना वि. सं. १९८७ में, भाद्रपद मास में, शुक्ल पक्ष में, श्रीनगर में घटित हुई।

भयङ्करज्वराक्रान्तमतिदीनं पिपासया।
शुष्यन्मुखं निर्जनस्थमसहायमचेतनम् ॥२७॥
दिव्यां त्रैयम्बकीं विद्यां यो मां सञ्जीवनीं स्वयम्।
पाययित्वा पयो दिव्यं स्वकमण्डलुसंस्थितम् ॥२८॥
उपादिशन्महान् कोऽपि पुरुषः कृष्णपिङ्गलः।
दधत्त्रिशूलकरकौ दिव्यकारुण्यविग्रहः ॥२९॥
अज्ञातनामधामापि करुणाहृतमानसः
वन्दे तमद्भुतं साक्षाच्छिवरूपं हृदि स्थितम् ॥३०॥

ध्यान के द्वारा मेरे हृदय में ठहरे हुए उस साक्षात् शिवरूपी अतीव अद्भुत सिद्ध पुरुष को मैं प्रणाम करता हूं जिसने मुझे उस

समय स्वयमेव अपने कमण्डलु में से दिव्य जल को पिलाकर जीवन-दान देने वाली दिव्य त्र्यम्बक मन्त्र की विद्या उस समय मुझे दे दी जबकि मैं भयंकर ज्वर से पीडित था, बहुत दीन बना हुआ था, प्यास से मेरा मुख सूख रहा था और एकान्त में मूर्छा की सी दशा में असहाय पड़ा था । वह कोई काले पीले गन्दमी वर्ण का महापुरुष था। उसके हाथों में कमण्डलु और त्रिशूल थे । दिव्य करुणा की वह मानो मूर्ति ही था । करुणा से उसका हृदय खींचा गया था । उसके नाम को और स्थान को मैं नहीं जानता था ।

कुलूते धर्मशालायां श्मशानेश्वरसन्निधौ ।
वैक्रमेऽब्दे वृत्तमिदं देहाधिपमिते गते ।।३१।।

यह घटना कुलू प्रदेश में (सुलतान पुरी में) श्मशानेश्वर के समीप बनी हुई धर्मशाला में वि. सं. १९८८ में घटित हुई ।

लम्बकूर्चं तडिन्नेत्रं घनरोमकचाचितम् ।
उत्तर्जनीकं गर्जन्तं वात्सल्यान्वितमानसम् ।।३२।।

मन्निर्मितः "प्रभो शम्भो" श्लोको यत्सदयेच्छया ।
इष्टसिद्ध्यै प्राप सिद्धमहामन्त्रस्वरूपताम् ।।३३।।

अज्ञातनामधामानं वन्देऽहं दिव्यपूरुषम् ।
श्रद्धया परया नित्यं तमपि प्राप्तगौरवम् ।।३४।।

मेरे द्वारा निर्मित "प्रभो शम्भो" इत्यादि श्लोक जिस दिव्य

पुरुष की करुणापूर्ण इच्छा से इष्टसिद्धि के लिए एक सिद्ध महा मन्त्र बन गया, उस लम्बी दाढी वाले, बिजली के समान नेत्रों वाले, घने बालों और रोमों से भरे हुए, तर्जनी को ऊपर उठा उठा कर गरजते हुए, वात्सल्य से युक्त हृदय वाले, मुझ से न जाने हुए नाम और स्थान वाले और गुरुरूपता को प्राप्त दिव्यपुरुष को मैं परम श्रद्धा से सदा प्रणाम करता हूं।

खनन्दनन्देन्दुमिते वैक्रमे मासि माधवे।
नालागढे धर्मसभाभवने घटितं त्विदम् ॥३५॥

यह घटना विक्रम संवत् १९९० मे वैशाख के महीने में, नाला-गढ़ में, धर्म-सभा के भवन में घटी।

प्रायोपवेशनं कृत्वा पुण्ये भागीरथीतटे।
पातयिष्ये देहमिति प्रत्यजानां यदार्दितः ॥३६॥

जब मैंने रोग से अत्यन्त पीडित होकर यह प्रतिज्ञा की कि गङ्गा नदी के पवित्र तट पर अनशन व्रत करके शरीर को गिरा दूंगा;

तदा कोऽपि महान् पुण्यः पुरुषो दिव्यदर्शनः।
शुभ्रकेशश्मश्रुकूर्चश्चन्द्रगौरः शुचिस्मितः ॥३६॥

प्रवयाः श्वेतवसनः श्वेतभ्रूः श्वेतरोमवान्।
निर्यद्देहप्रकाशेन येन गेहे दिनायितम् ॥३८॥

निशीथे प्रकटीभूय मम स्थाने स्वयैच्छया ।
अनौचित्यं प्रदर्श्यास्याः प्रतिज्ञायाः स माऽब्रवीत् ॥३९॥

तब किसी श्वेत केश, दाढी और मूछों वाले, चन्द्रमा के समान गौर वर्ण वाले, सुन्दर और पवित्र मुस्कराहट से युक्त, श्वेत वस्त्रों वाले, सफेद भौहों और रोमों वाले और शरीर से निकलते हुए प्रकाश के द्वारा जिस ने रात को भी मकान के भीतर दिन जैसा बना दिया, ऐसे वयोवृद्ध तथा दिव्य आकृति वाले किसी बड़े ही पुण्यात्मा महापुरुष ने आधीरात में मेरे स्थान में अपनी ही इच्छा से प्रकट होकर मेरी इस (उपरोक्त) प्रतिज्ञा की अनुचितता को जतला कर मुझ से ऐसा कहा—

देहं न पातयिष्यामि स्वयं भगवदिच्छया ।
समाप्तौ भोगजातस्य प्राप्ते काले पतिष्यति ॥४०॥

प्रतिजानीहि वत्सैवं यतस्त्वमसि पण्डितः ।
शरीरस्यापि भूयांसः सन्ति भोगा यतस्तव ॥४१॥

हे पुत्र, तुम इस बात की प्रतिज्ञा करो कि "मैं शरीर को स्वयं नहीं गिरा दूंगा, प्रारब्ध भोग की समाप्ति पर भगवदिच्छा से स्वय गिर जाएगा", क्योंकि तुम विद्वान् हो और तुम्हारे शरीर के भी बहुत सारे कर्म-फल-भोग अभी शेष हैं ।

प्रतिज्ञां कारयित्वैयं स्वयं सोऽभूदलक्षितः ।
तमपि श्रद्धया दिव्यं नमाम्यज्ञातपूरुषम् ॥४२॥

मुझ से ऐसी प्रतिज्ञा करवाकर वह महापुरुष स्वयमेव अदृश्य हो गया। मैं उस अज्ञात दिव्य महापुरुष को भी श्रद्धा पूर्वक प्रणाम करता हूं।

मार्गशुक्लत्रयोदश्यां पुरे रोपड़संज्ञके ।
वैक्रमेऽब्दे वृत्तमिदं युद्धाधिपमिते गते ॥४३॥

विक्रम संवत् १९९१ में रोपड़ (पंजाब) नामक नगर मे, मार्गशीर्ष मास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी को यह घटना घटित हुई।

विलम्बिमुक्तारत्नादिझल्लरीमण्डितं महत् ।
भास्वरं काञ्चनं छत्रं जटितं हीरकादिभिः ॥४४॥

अन्तरिक्षे निराधारं मध्याह्ने शिखरे गिरेः ।
टीठवालपुरादूर्ध्वं योजनद्वितयेऽद्भुतम् ॥४५॥

काश्मीरमण्डले येन कुटीरे पटनिर्मिते ।
आलोकितं निवसता सोऽस्मि शाको महान् शिवः॥४६॥

मैं वह 'शाक' स्वरूप परमशिव हूं जिसने कश्मीर मण्डल में टीठवाल नामक स्थान से चारकोस ऊपर पहाड़ी के शिखर पर तम्बू में रहते हुए मध्याह्न के समय लटकते हुए मोतियों और रत्नों के जालर से युक्त, जड़े हुए हीरे आदि रत्नों वाले, आकाश में निराधार ठहरे हुए एक स्वर्ण निर्मित, चमकीले तथा विशालकाय और अद्भुत छत्र को देखा।

गालूनेत्रमिते वर्षे वैक्रमे मासि चाश्विने ।।
शुक्लपक्षे वृत्तमिदं दोधकुच्छनपर्वते ।।४७।।

संवत् २००३ में आश्विन महीने के शुक्लपक्ष में दूधकुच्छन नामक पर्वत पर यह घटना घटित हुई।

बिरलानिर्मिते घट्टे श्रीदक्षेश्वरसन्निधौ ।
तीर्थे कनखले गङ्गाप्रवाहे घोरवेगिनि ।।४८।।

चाम्पेयगौरीमुन्मुक्तभृङ्गनीलशिरोरुहाम् ।
परतीरात् समायान्तीं बाहुसन्तरणेन वै ।।४९।।

ग्रीवायां ग्रन्थिसन्नद्धं वसाना वास उत्तमम् ।
हंसपक्षप्रतीकाशं श्वेतं मसृणभास्वरम् ।।५०।।

नवयौवनसम्पन्नां गङ्गां भगवतीं मुहुः ।
अदृश्यां पाठविच्छेदे साश्चर्यमनसाऽद्भुताम् ।।५१।।

श्रीगङ्गालहरीस्तोत्रं पठन् सुस्वरयोगतः ।
अहं वारत्रयं साक्षाद् दृष्टवान् दिव्यरूपिणीम् ।।५२।।

कनखल नामक तीर्थ पर, श्रीदक्षेश्वर के समीप, बिरलाघाट पर पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा निर्मित श्रीगङ्गालहरी नामक स्तोत्र का मधुर स्वर से पाठ करते हुए मैं ने आश्चर्य चकित हृदय से दिव्य-

रूपिणी गङ्गा भगवती को भयानक वेग वाले गङ्गा के प्रवाह में तीन बार देख लिया। उसके शरीर का वर्ण चम्पक पुष्प की तरह गौर था भौंरों के समान श्याम वर्ण वाले उसके केश खुले थे। वह परले तट से बाहुओं के द्वारा तैरती हुई इधर को आ रही थी। उसकी ग्रीवा में गांठ लगा कर बन्धा हुआ, राजहंसों के पंखो के समान चमकीला, सफेद रंग का एक कोमल और उत्तम वस्त्र पहना हुआ था। नवयौवन से सम्पन्न वह देवी गङ्गालहरी के पाठ के रुक जाने पर अदृश्य हो जाती थी तथा अद्भुत दिव्य रूप वाली थी।

एतच्चमत्कारसाक्षी विप्रोऽप्यूचे तदैव माम्।
भगवतीप्रसादाख्यो विस्मयान्वितमानसः ॥५३॥

इस चमत्कार के साक्षी बने हुए श्री भगवती प्रसाद नामक ब्राह्मण ने भी आश्चर्यचकित हृदय से उस समय मुझ से कहा—

नूनं भगवती गङ्गा पाठसन्तुष्टमानसा।
दर्शनं दातुमायाता स्वयमेवेति तर्कये ॥५४॥

मैं तो ऐसा समझता हूं कि अवश्य ही गङ्गा भगवती का हृदय आपके पाठ से सन्तुष्ट हो गया और वह स्वयमेव दर्शन देने के लिए आ गई हैं।

प्रत्याख्यायापि तद्वाक्यं मया तेन सहैव सा।
अन्विष्टा सर्वतो लब्धा नैवावाभ्यां पुनः क्वचित् ॥५५॥

उसकी बात को न मानते हुए काट कर मैं ने उसके साथ ही उस सुन्दरी को वहां सर्वत्र ढूंढा, परन्तु हमने उसे फिर से कहीं भी नहीं पाया।

वैक्रमेऽब्दे विघ्ननेत्रमिते संवत्सरे गते।
शुचिमासे वृत्तमिदं वृत्तं विस्मयकारकम् ॥५६॥

यह आश्चर्य जनक घटना विक्रमी संवत् २००४ में आषाढ के महीने में घटित हुई।

अलक्ष्यमूलतन्त्वग्रेऽतिसूक्ष्मे मण्डलं भ्रमत्।
वर्तुलं निनदत् पुण्यं महद्धीरकभास्वरम् ॥५७॥

मैंने (दिल्ली नगर में) एक ऐसे अतिसूक्ष्म तन्तु के किनारे पर, जिसका ऊपर वाला आधार कहीं दीख नहीं रहा था, लटकते हुए हीरे के समान चमकीले घूमते हुए, शब्दायमान, गोलाकार, पवित्र, और विशालकाय मण्डल को देखा।

तन्मध्यादुत्थिते तन्तोरग्रे स्फटिकभास्वरम्।
विचित्रनादं सुभगं भ्रमद्वर्तुलमण्डलम् ॥५८॥

इसके बीच में से निकले हुए तन्तु के किनारे पर घूमते हुए, विचित्र नाद वाले, स्फटिक मणि की तरह चमकते हुए, सुन्दर और गोलाकार एक और मण्डल को देखा।

तन्मध्यादुत्थिते तन्तोरग्रे माणिक्यभास्वरम् ।
विचित्रशब्दगतिमद् वर्तुलं मण्डलं भ्रमत् ॥५६॥

उस मण्डल के बीच में से निकले हुए तन्तु के किनारे पर घूमते हुए, विचित्र नाद और गति वाले, माणिक्य नामक रत्न के समान लाल कान्ति वाले गोलाकार एक और मण्डल को देखा।

तन्मध्यादुत्थिते तन्तोरग्रे नीलमणिप्रभम् ।
घोरारावं घोररूपं भ्रमत् सद्वृत्तमण्डलम् ॥६०॥

उसके बीच में से निकले हुए तन्तु के अग्रभाग पर घूमते हुए, इन्द्रनील रत्न के समान काली कान्ति वाले, भयानक नाद और भयानक रूप वाले गोलाकार एक और मण्डल को देखा।

एवं विलक्षणं दृष्टं मण्डलानां चतुष्टयम् ।
अगम्यशब्दार्थमयं शैवशाक्तत्रिकोणवत् ॥६१॥

इस प्रकार के परस्पर विलक्षण ऐसे चार मण्डलों को देखा जो न समझे जा सकने वाले, अर्थात् दुर्बोध शब्दों और अर्थों वाले थे और जो शैव और शाक्त त्रिकोणों के आकार में फैले हुए थे।

ऊपर की ओर ऊर्ध्वमुख त्रिकोण की और नीचे की ओर अधोमुख त्रिकोण की आकृति में फैले थे।

इन्द्रप्रस्थे दृष्टमष्टवादनावसरे दिवा ।
महाविद्याप्रसादेन सोऽहं शाक्तो महाशिवः ॥६२॥

जिसने दिल्ली नगर में दिन के आठ बजे के समय भगवती महाविद्या के अनुग्रह से (इस दिव्य दृश्य को) देखा मैं वही 'शाकात्मक' परमशिव हूं।

इन्द्रप्रस्थे माघमासे विपन्नरमिते गते।
वैक्रमेऽब्दे वृत्तमिदं बुद्धमन्दिरसन्निधौ ॥६३॥

संवत् २०१४ में माघ के महीने में दिल्ली में बुद्धमन्दिर के पास यह घटना घटित हुई।

इति दिव्यदर्शनप्रकरणं नाम
सप्तममाह्निकम्।

यह दिव्यदर्शनप्रकरण नाम वाला सातवां आह्निक पूरा हो गया।
यहां तक की सभी कारिकाओं की संख्या = १५६

अथ

अष्टममाह्निकम्

(उपसंहारप्रकरणम्)

श्रीसम्प्रदायोक्तनयक्रमेण
सारल्यचेतोहरमात्मशम्भोः ।
ये प्रत्यभिज्ञारसमाप्तुकामा-
स्तेग्रन्थमेनं परिशीलयन्तु ॥१॥

जो महानुभाव श्रीविद्या के सम्प्रदाय की रीति के अनुसार शिवरूप अपने आप की प्रत्यभिज्ञा के आनन्द को प्राप्त करना चाहते हों वे (इसकी) सरलता के द्वारा पाठकों के हृदय को आकर्षित करने वाले इस ग्रन्थ का अभ्यास करें।

वैरं विहाय मनुजो मनसा सदैव
प्रोद्यद्दिवाकरमिवात्मशिवं सुरम्यम् ।
नाथं समस्तजगतां परितोष्य शोक-
पाथोधिशोषचतुरः स्वकलाबलः स्तात् ॥२॥

मानव अपने हृदय से सदा के लिए वैर का परित्याग करके (इस शास्त्र का अभ्यास करे और) उदय कालीन सूर्य के समान सुन्दर और तेजस्वी तथा सारे जगत के स्वामी आत्मदेव को सन्तुष्ट करके शोक रूपी समुद्र को सुखाकर अपनी स्वाभाविक शक्ति के द्वारा सामर्थ्य शील बने ।

निर्माय मात्मरससिद्धमहारहस्यं
निर्मायसिद्धकरुणारसभूतिमूर्तिम् ।
निर्मायसिद्धगुरुसिद्धमहारहस्यं
दुर्वाससं मुनिवरं गुरुमानमामि ॥३॥

सिद्ध गुरुओं के प्रसिद्ध साधना रहस्य का प्रतिपादन करने वाले इस सिद्ध महारहस्य नामक ग्रन्थ का निर्माण करके मैं अपने गुरुवर सिद्ध महामुनि श्री दुर्वासा मुनीश्वर को पुनः पुनः सर्वतः प्रणाम कर रहा हूं । वे माया के प्रभाव से रहित हैं; आत्म-आनन्द के चमत्कार से सिद्ध बने हुए हैं, अत्यन्त रहस्यमय हैं; माया से छूटे हुए सिद्ध-योगियों के ऊपर उपजी हुई शरीर धारिणी करुणा के आनन्द की

सत्ता हैं; माया दशा से ऊपर गए हुए सिद्ध जनों में और वैसे गुरुजनों में एक रहस्यात्मक महापुरुष हैं ।

दुर्वाससो भगवतो वदनारविन्दात्
साक्षान्निधानमधिगम्य समाधियुक्तेः ।
आलम्ब्य तच्छिवकरो जनतापहर्ता
ग्रन्थो व्यधायि विदुषामृतवाग्भवेन ॥४॥

भगवान् श्री दुर्वासा मुनीश्वर के मुख कमल से शाम्भव समावेश की युक्ति के साक्षात् खज़ाने को पाकर और उसका आश्रय लेकर विद्वान् आचार्य श्रीमद् अमृतवाग्भव ने लोगों के त्रिविध सन्तापों को शान्त करने वाले और उनका कल्याण करने वाले इस ग्रन्थ का निर्माण किया ।

शम्भुभूतिरहमुत्तमः पुमान्
स्वात्मतामनुभवामि शाश्वतीम् ।
अद्भुते जगति तां स्मरन्नपि
प्रस्मरामि भवभावितात्मवान् ॥५॥

शिवशक्ति से ऐश्वर्यवान् बना हुआ मैं पुरुषोत्तम अपनी सदातन स्वस्वभावता का अनुभव करता रहता हूं । इस अदभुत संसार में जीवभाव की कलना करके अपने उस स्वभाव को स्मरण रखता हुआ ही व्यवहार चलाने के लिए उसे भुला भी डालता हूं ।

नभ्रनभ्रमितवैक्रमेऽब्दके
चैत्रशुक्लदशमीतिथौ बुधे ।
ग्रन्थपूर्तिसुकृतं समर्पये
कोपभट्टगुरुराजपादयो: ।।६।।

विक्रम संवत् २०२० में चैत्र मास के शुक्लपक्ष की दशमी तिथि को बुधवार के दिन मैं ग्रन्थ को पूरा कर देने के महापुण्य को अपने गुरुदेव श्री महामुनि भगवान दुर्वासा के चरणों में अर्पित करता हूं।

इत्युपसंहारप्रकरणं नामाष्टममाह्निकम् ।

यह उपसंहार प्रकरण नाम का आठवां आह्निक पूरा हो गया।

सारी कारिकाएं =१६२

सम्पूर्णमिदं श्रीसिद्धमहारहस्यम् ।

कृतिरियं तत्रभवत:

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-महामहिम-आचार्य-श्रीमदमृतवाग्भवस्य ।

यह सिद्धमहारस्य नामक ग्रन्थ पूरा हो गया ।

यह कृति है

समस्त तन्त्रों में स्वतन्त्र-महामहिमाशील आचार्य

श्रीमान् अमृतवाग्भव की।

डा. बलजिन्नाथ पण्डित शास्त्री, एम. ए., पी. ऐच डी. के द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद तथा लघुव्याख्या दोनों पूरे हो गए।

———

अथ

खिलमाह्निकम्

(इष्टदेवतादर्शनप्रकरणम्)

बहूनि दिव्यदृश्यानि दर्शितान्यम्बया मम ।
परमिष्टं बालरूपं न कदापि प्रदर्शितम् ॥१॥
इति चिन्ताकुलोऽभूवं यदाहं बहुवासरान् ।

जब मैं बहुत दिन इस चिन्ता से व्याकुल रहता रहा कि मां ने मुझे अनेकों दिव्य दर्शन तो दिखा दिए, परन्तु मेरे इष्ट देवतात्मक अपने बाला त्रिपुरारूप के दर्शन कभी नहीं दिए—

तदैका कन्यका दृष्टा मया कौमारविग्रहा ॥२॥
लम्बयित्वा पुरो रम्ये निजे जंघे ममोरसि ।
नित्यकर्मान्तिवेलायां मद्ग्रीवोपरि संस्थिता ॥३॥

तब मैं ने एक बाल्यशरीर वाली कन्या को देखा। जिस समय मैं अपना नित्य कर्म पूरा कर चुका, उसी समय सामने से मेरी छाती के ऊपर अपनी दोनो सुन्दर टांगों को लटका कर वह मेरी ग्रीवा पर सवार हुई थी।

पादयोर्नूपुरे तस्या अभूतां ये महोज्ज्वले।
तयोरेकं पतद्भूमौ स्वहस्तेन धृतं मया ॥४॥

उस बच्ची के पैरों में जो दो सुन्दर पांयजेब पहने हुए थे, उनमें से एक को भूमि पर गिरते गिरते ही मैंने अपने हाथ से उठा लिया।

पुनरारोपणे तत्र यदैवासं प्रवृत्तिमान्।
तदैवोत्प्लुत्य धावन्ती सा गताऽदृश्यतां क्वचित् ॥५॥

ज्यों ही उसे फिर से पैर में मैं पहनाने ही लगा त्यों ही उछल कर दौड़ती हुई वह कहीं अदृश्य हो गई।

पृष्ठदेशो मया दृष्टो नेक्षितं ह्याननाम्बुजम्।
रहस्यं देवतानां नु प्रवृत्तेर्ज्ञायतां कथम् ॥६॥

मैं ने उसकी पीठ को तो देखा, परन्तु उसके मुख कमल को देख न पाया। देवताओं की प्रवृत्ति के रहस्य को भला कैसे जाना जा सके।

इत्थं येन मनाग् दृष्टं स्वमिष्टं शाक-दैवतम् ।
आयुषः पश्चिमे वर्षे सोऽहं शाकः परः शिवः ॥७॥

जिसने इस तरह से आयु के अन्तिम वर्ष में अपने 'शाकस्वरूप' इष्ट देव के ज़रा भर दर्शन किये मैं वही 'शाकस्वरूप' परमशिव हूं ।

मोतीबागपुरे दिल्ल्यां देशराजद्विजन्मनः ।
आवासे घटितं धूलिनीरे वर्षे शरदृतौ ॥८॥

यह घटना दिल्ली में मोती बाग नाम की बस्ती में श्री देशराज शर्मा नाम के ब्राह्मण के आवास में संवत् २०३९ में शरदऋतु में घटित हुई ।

यथाचार्यवरैर्दृष्टं तथोक्तं तैः कृपापरैः ।
तथालिखत्तु तद्वाचा बलजिन्नाथपण्डितः ॥९॥

जैसे कि आचार्य महोदय ने दर्शन किए, वैसे ही उन्होंने कृपापूर्वक (हमें) कह सुनाया । उसी प्रकार से बलजिन्नाथ पण्डित ने इस घटना को उन्ही के शब्दों में लिख डाला ।

तात्पर्य यह है कि इस घटना को पूज्यपाद आचार्य महोदय की ही वाणी में उत्तम पुरुष में ही लिखा गया, मानों कि ये श्लोक उन्होंने ही कहे हों । जैसा वृत्तान्त उन्होंने सुनाया वैसे ही इन श्लोकों की रचना की गई ।

प्रविष्टे फाल्गुने धीरे रचिता तत्र हायने ।
गुरुपादाब्जयोर्भक्त्या रचनेयं निवेद्यते ॥१०॥

उसी वर्ष (२०३९ में) फाल्गुन प्रविष्ट २९ तारीख को रची गई यह रचना पूज्य गुरु जी के चरणों में भक्तिपूर्वक अर्पित की जा रही है ।

इतीष्टदेवतादर्शनप्रकरणं नाम
खिलमाह्निकम् ।

इष्टदेवतादर्शनप्रकरण नाम वाला यह पश्चात् जोड़ा हुआ आह्निक है ।

कृतिरियं बलजिन्नाथपण्डितस्य ।

यह खिल भाग बलजिन्नाथ पण्डित की कृति है ।

कारिकाएं—१०

— — — —

एक गूढार्थ श्लोक की विशेष व्याख्या

रक्तशक्तिममितौजसीं कलां
लालितीममृतवर्षिणीं पराम् ।
सारसेऽर्हमि सहस्रपत्रके
हंसगां शिरसि गौरवीं भजे ।। (२-१)

पदार्थ—रक्तशक्ति=(१) रक्तवर्ण वाली भगवती कामकला । (२) जिसपर सारे का सारा सृष्ट्यादि—सामर्थ्य सदैव अनुरक्त बना रहता है । अमितौजसी=अपरिमित तेज से देदीप्यमान । कला=(१) भगवती कामकला । (२) परमेश्वर की वह पारमेश्वरी कला जिसके द्वारा वह सृष्ट्यादि की लीला का अभिनय सदैव करता ही रहता है । सृष्टि-संहार आदि में उसकी निपुणता । (३) ककार और लकार से युक्त भगवती कामकला । (४) चित्-प्रकाशरूप शिव की विमर्शरूपिणी क्रियाशक्ति । लालिती=समस्त-

लालित्य-स्वरूपिणी देवी बाला त्रिपुरसुन्दरी । अमृतवर्षिणी=(१) सहस्रदल कमल से अमृत बरसाने वाली कुण्डलिनी शक्ति। (२) अतीव उत्कृष्ट और आनन्दमयी अमरण दशा को अर्थात् परमार्थ-मुक्ति को देने वाली। (१) परा=सर्वोत्कृष्ट परमेश्वरी । (२) पकार और रकार से युक्त । सारसे=सरोवरों में उत्पन्न होने वाले कमल में । अहृम्नि=जीव-चैतन्य-रूपी 'अहं' का अधिष्ठान बने हुए सहस्रदल कमल में । सहस्रपत्रके=सहस्रों दलों वाले कुण्डलिनी के सातवें चक्र में। हसगा=(१) "हंस: हंस:" इस प्रकार का नाद करने वाले प्राणरूपी वाहन पर चढ़ कर विचरण करने वाली। (२) हंसवाहिनी देवी हंसवागीश्वरी । (३) हंस के शरीर में प्रकट होकर दर्शन देने वाली हंसवागीश्वरी भगवती। शिरसि=सिर के ऊपरी भाग में विद्यमान सहस्रदल में । गौरवीं=(१) एकमात्र गुरुकृपा से ही अनुभव में आ सकने वाली । (२) गौरवी+ईं=गुरु कृपा गम्य ईंकार रूपिणी भगवती कामकला । भजे=मैं उस भगवती का पूजन, सेवन, अनुभव आदि कर रहा हूं ।

वाक्यार्थ=मैं अपने सिर के ऊपरी भाग के भीतर अह-स्वरूप जीवचैतन्यात्मक चिदानन्दघन सहस्रदल कमल में "हंस: हंस:" इस प्रकार का नाद करने वाले प्राणरूपी वाहन पर आरूढ हुई हंस-वाहना, एक मात्र गुरु-उपदेश से ही जानी जा सकने वाली, ककार और लकार से युक्त होती हुई, ईंकार-रूपिणी (सिन्दूर के जैसे) अरुण वर्ण वाली, परमेश्वर की कामकलारुपिणी उस परा शक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी हंसवागीश्वरी देवी का भजन कर रहा हूं जो परमेश्वर

की सृष्टि-संहार आदि लीला के नैपुण्य की उसकी अत्युत्कृष्ट परमेश्वरतात्मिका कला है, जो अपरिमित ओज से युक्त है, जो अनुपम लालित्य-स्वरूपिणी है, जो सहस्रदल कमल में से अमृत-वरसाती रहती है, जो सर्वोत्कृष्ट मोक्ष-दशा को देने वाली है, जो पकार और रकार के रूप में भी प्रकट होती है जिस पर सृष्टि-आदि पाच पारमेश्वरी कृत्यों का सारे का सारा सामर्थ्य अनुरक्त है और जो अभिन्न ज्ञानस्वरूप चित्प्रकाशरूपी शिव की विमर्शात्मिका पारमेश्वरी क्रिया-शक्ति है।

सन्धिच्छेद के वैचित्र्य से कहीं कहीं कई एक अर्थ लगते हैं—

(१) अमितौजसीं=हे अमितौजसि+इ+ईं।

(२) लालितीं=हे लालिति+इ+ईं।

(३) अमृतवर्षिणीं=हे अमृतवर्षिणि+इ+ईं।

(४) गौरवीं=हे गौरवि+इ+ईं।

चारों ही पदों में आरम्भ में भगवती के विशेषणपद हैं, जो चारों ही सम्बोधनात्मक हैं। "इ" यह वर्ण मातृका क्रम में इच्छात्मिका पराशक्ति का व्यञ्जक है। अतः चारों बार इकार से पराशक्ति का सम्बोधन किया जा रहा है। "ईं" भगवती निष्कला कामकला का रहस्यात्मक व्यञ्जक नाम है। इस व्याख्या के अनुसार श्लोक का तात्पर्य यह है—

हे अमित तेज वाली, हे लालित्य-स्वरूपिणी, हे अमृत बरसाने वाली, हे केवल गुरु के उपदेश से ही समझी जा सकने वाली, भगवती

इकार नाम वाली पारमेश्वरी शक्ति, मैं ईंकार-रूपिणी, कामकलात्मिका, भगवती त्रिपुरसुन्दरी हंसवागीश्वरी के रूप में आपका भजन सहस्रदल कमल के भीतर कर रहा हूं।

फिर इस श्लोक के पदों को अन्वय दस प्रकार से लगाया जा सकता है। तदनुसार श्लोक के दस अर्थ बनते हैं। शब्दों के अर्थ में कहीं कहीं थोड़ा सा अन्तर पड़ने पर भी विशेष अन्तर नहीं पड़ता है। इस शास्त्र की संस्कृत व्याख्या में वे अन्वय प्रकार विस्तार से दिए जाएंगे और उनके अनुसार व्याख्या भी वहीं की जाएगी।

❀ श्रीः ❀

श्री-देशिकदर्शनम् ।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-महामहिम-आचार्य-
श्रीमदमृतवाग्भवप्रणीतम्

अनुवादक :
डा० बलजिन्नाथपण्डितः

सिद्ध-महा-मन्त्र-मयी प्रार्थना

(आ० श्रीमद् अमृतवाग्भव-निर्मिता)

प्रभो शम्भो दीनं विहितशरणं त्वच्चरणयोर्
भवारण्यादस्माद् विषमविषयाशीविष-वृतात् ।
समुद्धृत्य श्रद्धा-विधुरमपि बद्धादरकरं
दयादृष्ट्या पश्यन्निजतनयमात्मीकुरु शिव ॥

अर्थ—हे सर्वशक्तिमान्, समस्त संसार का कल्याण करने वाले, कल्याणस्वरूप भगवान् शिव, यद्यपि मुझ में सच्ची श्रद्धा की न्यूनता है, फिर भी मैं अति दीन बन कर आदरपूर्वक हाथ जोड़े हुए आप के चरणों की शरण में आया हूं। (अतः) विषय रूपी भयङ्कर विषधर सर्पों से भरे हुए इस संसार रूपी महावन में से मेरा उद्धार करके दया-दृष्टि से देखते हुए अपने पुत्र रूपी मुझको (अवश्य ही) अपनाइए, अर्थात् मुझे अपने साथ अभेद भाव का साक्षात्कार करवाइए।

इसी मन्त्र का उल्लेख सिद्ध-महा-रहस्य के सातवें आह्निक के ३२ से ३५ तक के श्लोकों में किया गया है।

श्रीदेशिकदर्शनम्

भगवान् दुर्वासा के शरीर के अङ्गों का वर्णन :—

तप्तकाञ्चनगौराभः प्रांशुदेहः कृशाङ्गवान् ।
मधुपिङ्गल-तारावद्विशाल-नयनाञ्चितः ॥१॥

भगवान् दुर्वासा के शरीर की कान्ति तपे हुए स्वर्ण की कान्ति के समान गौर है। उनका शरीर पतला और लम्बा है । उनके नेत्र विशाल हैं और नेत्रों के तारे शहद के समान पिङ्गल वर्ण के हैं ।

पिशङ्गवर्णकेशाढ्यः शुकनासो बृहच्छ्रवाः ।
लोमवत्सर्वगात्रोऽसौ लम्बकूर्चो महाभुजः ॥२॥

उनके लम्बे और घने केश पिङ्गलवर्ण के हैं। उनका नाक तोते की नाक की तरह मध्य में ऊपर उभरा हुआ है । उनके कान

बड़े बड़े हैं। उनके सारे शरीर पर रोम हैं, मूछें उनकी लम्बी लम्बी हैं और बाहु विशाल हैं।

दीर्घश्मश्रुः स्निग्धवर्णश्चापभ्रूः शुभ्रदन्तधृक्
विशालभालः स्मेरास्यः सुकपोलः प्रसन्नदृक् ॥३॥

दाढ़ी उनकी लम्बी है, शरीर का वर्ण खूब चमकीला है, भौंहें धनुष के समान वक्र हैं, दान्त चमकीले सफेद हैं, माथा विशाल है, कपोल सुन्दर हैं, दृष्टि प्रसन्न है और मुख में मुस्कराहट है।

किञ्चिल्लम्बाननः कम्बुग्रीवः पृथुलमस्तकः।
महाहनुः शोणपाणिः शोणपादो वृकोदरः ॥४॥

चेहरा उनका ज़रा लम्बा सा है, ग्रीवा शंख के समान वर्तुल है, सिर विशाल है, ठोडी सुपुष्ट है, हाथ और पैर अरुण वर्ण के हैं और पेट भीतर की ओर चिपका हुआ सा है।

उनकी वेष भूषा का वर्णन :—

जानुदघ्नमधोवासो वसानश्चोत्तरीयकम्।
किञ्चिन्मलिनमश्वेतमपि प्रयतमुत्तमम् ॥५॥
दक्षिणं पाणिमुद्धृत्य वसानो ब्रह्मसूत्रवत्।

नीचे अंगोछे का जैसा एक वस्त्र घुटनों तक लपेटा हुआ है और ऊपर पण्डितों की चादर जैसा वस्त्र धारण किया हुआ है। वस्त्र

हिमधवल नहीं हैं। ज़रा मलिन से हैं, फिर भी स्वच्छ और उत्तम हैं। ऊपर वाला वस्त्र दाएं बाज़ू को ऊपर उठाकर यज्ञोपवीत की शैली पर पहना हुआ है। (उसका एक छोर आगे से और एक पीछे से लटक रहा है)।

रुद्राक्षमालिकां कण्ठे मूर्धन्यपि च धारयन् ॥६॥
रुद्राक्षवलये सौम्ये दधानो मणिबन्धयोः ।
भस्मत्रिपुण्ड्रमलिके रुद्राक्षौ श्रोत्रयोरपि ॥७॥

गले में रुद्राक्षों की माला पहने हैं, सिर पर एक और ऐसी माला पहने हैं। कलाइयों में छोटे छोटे रुद्राक्षों के सुन्दर कड़े धारण किए हुए हैं और कानों में भी रुद्राक्ष पहने हैं। माथे पर भस्म का त्रिपुण्ड्र लगाया है।

भावभङ्गी और महिमा आदि का वर्णन :—

प्रशान्तधीः प्रसन्नात्मा त्रिकालज्ञो महामुनिः ।
निग्रहानुग्रहौ कर्तुमवतीर्णो महीतले ॥८॥

उनका चित्त प्रशान्त है, अन्तरात्मा निर्मल और सुप्रसन्न है। तीनों ही कालों, अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान का उन्हें ज्ञान है। मुनियों में वे श्रेष्ठ हैं और निग्रह और अनुग्रह की लीला का अभिनय करने के लिए इस भूलोक में अवतार के रूप में उतर आए हैं।

धर्ममूर्त्तिरयं साक्षान्निगमागममर्मवित् ।
दुर्वासा भगवान् शम्भुः प्रथमो देशिकः सताम् ।।९।।

वे धर्म की साक्षात् मूर्त्ति हैं । अपनी साक्षात् अनुभूति से वे निगमों और आगमों के, अर्थात् वेदों और तन्त्रों के रहस्यों को जानने वाले हैं । वे शरीरधारी शिव ही हैं और यथार्थ सन्मार्ग पर चलने वाले सिद्धों के एक आदि गुरु हैं ।

स्वरसेन स्वाभिनये प्रायोऽयं कोपमुख्यताम् ।
स्वीकृत्य कुरुते नाट्यं लोकानुग्रहकारकम् ।।१०।।

अपने आनन्द के रस में आते हुए अपनी लीला के अभिनय में वे प्रायः क्रोध की प्रधानता को अपना करके ही लोगों पर अनुग्रह करने वाली नाट्य लीला को खेलते रहते हैं ।

कोपभट्टारक इति ततोऽयं सुप्रथामगात् ।
महानुग्रहरूपो मे देशिकः शाकदर्शने ।।११।।

इस कारण से वे संसार में "कोपभट्टारक" इस नाम से विशेषतया प्रसिद्ध हो गए हैं । 'शाकदर्शन' के मेरे वे गुरु तो वस्तुतः सुविशाल अनुग्रह की मूर्ति हैं ।

भगवान् दुर्वासा के क्रोधोपन की कहानियां अधिकांश में कवियों ने स्वयं घड़ ली हैं। उदाहरणार्थ—भगवान् दुर्वासा के द्वारा भगवती सरस्वती को निरपराध होते हुए भी शाप देने की कहानी सातवीं शताब्दी में बाणभट्ट ने घड़ ली है। महाकवि कालिदास ने तो अति प्राचीन काल में ही इस नीति को अपनाया था। उसके फल स्वरूप उसने अपने नाटक के नायक दुष्यन्त को और उसकी नायिका शकुन्तला को चरित्र के ऊंचे से ऊंचे आदर्श के शिखर पर चढ़ा देने के लिए दुष्यन्त की काम लम्पटता को, उसकी निष्ठुरता को और शकुन्तला की कामचपलता को पूरी तरह से छिपा देना जो चाहा तो उसे भी यही सूझी कि दोनों के अपराधों का मूल कारण दुर्वासा की क्रोधशीलता को ही बनाया जाए। अत: उसने दोनों की स्वकर्मजन्य आपदा का भार दुर्वासा से दिए हुए शाप पर चढ़ा दिया। शाप की सारी कहानी को स्वयं घड़ लिया और इस तरह से नायक-नायिका के चरित्र को आदर्श के ऊंचे शिखर पर चढ़ा दिया। महाभारत के शाकुन्तल-उपाख्यान के साथ अभिज्ञान शाकुन्तल के तुलनात्मक अध्ययन से ये सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। उससे पूर्व के वैष्णव लेखकों ने भी दुर्वासा की क्रोधमयी कहानियों को बहुत मात्रा में घड़ घड़ कर वैष्णव पुराणों में उन्हें प्रक्षिप्त कर रखा था। परन्तु, जैसी श्री सिद्ध-महारहस्य के निर्माता आचार्य महोदय की साक्षात् अनुभूति है, भगवान् दुर्वासा वस्तुत: अनुग्रहमूर्ति हैं यद्यपि प्राय: क्रोधशीलता का अभिनय करते रहते हैं। उनका क्रोध भी माता पिता के क्रोध की तरह हितकर और कल्याणकारी होता हुआ वस्तुत: अनुग्रह ही होता है।

श्रीविद्यासमुपासनां प्रथयितुं सत्सम्प्रदायक्रमात्
शिष्टानुग्रहणाय दुष्टनिकरोच्छेदाय योऽवातरत्.।
साक्षाद् दर्शयितुं समस्तजगतामात्मानमात्मप्रथं
दुर्वासा भगवान् सदा विजयतां श्रीमान् स्वरूपो गुरुः
॥१२॥

आदर्शभूत गुरु सम्प्रदाय के अनुसार श्रीविद्या की उपासना का प्रचार करने के लिए, सज्जनों पर अनुग्रह करने के लिए, दुर्जनों के दलों का उच्छेद करने के लिए तथा स्वयं अपने ही चित्प्रकाश से सदा चमकते हुए और समस्त ब्रह्माण्डों के वास्तविक आत्म स्वरूप स्वात्म परमेश्वर का साक्षात्कार करवाने के लिए जो इस भूलोक में अवतार रूप में उतरे उन हमारे स्वात्मस्वरूप गुरुदेव भगवान् श्रीदुर्वासा मुनीश्वर की सदा जय जयकार हो।

श्रीविद्या के आदि गुरुओं में महर्षि अगस्त्य और लोपामुद्रा प्रसिद्ध हैं। उनके पश्चात् जिन गुरुओं की प्रसिद्धि है वे हैं महर्षि दत्तात्रेय, दुर्वासा और परशुराम । दुर्वासा मुनीश्वर ने श्रीविद्या की उपासना के द्वारा जिस दर्शन सिद्धान्त की साक्षात् अनुभूति की परम्परा को चलाया उसे पराद्वैत सिद्धान्त कहा जाता है जिसके अनुसार एक मात्र अद्वैत रूप परमेश्वर ही जगत् की लीला का अभिनय करता हुआ द्वैत में, अद्वैत में, बन्धन के प्रपञ्च में, मोक्ष के सोपानों में, तथा गुरु और शिष्य आदि के रूप में स्वयमेव प्रकट होता रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ही दुर्वासा मुनीश्वर की यह स्तुति की गई है।

कश्मीराभिजनाय विज्ञबलजिन्नाथाय गोप्यं परं
वक्तुं वर्णनमेतदस्ति रचितं दुर्वाससः श्रीमतः।
यो मां षोडशवर्षमात्रमतुलं कारुण्यमालम्ब्य सद्
दत्त्वा दर्शनमप्रयमव्ययमयच्छैवं रहस्यं परम् ॥१३॥

जब मैं अभी सोलह वर्ष की आयु का था तभी जिन्होंने मेरे ऊपर अनुपम और उत्कृष्ट करुणा के भाव का आश्रय लेकर के और मुझे साक्षात् दर्शन देकर मुझ को शैव विज्ञान के पराद्वैत सिद्धान्त रूपी परम रहस्य का अनुभव करा दिया उन श्रीमान् महामुनि दुर्वासा का यह वर्णन यद्यपि अत्यन्त गोपनीय है फिर भी कश्मीर देश में जन्म हुए विद्वान् बलजिन्नाथ को बताने के लिए मैंने इसका निर्माण कर ही दिया।

दुर्वाससा भगवता मयि दीनदीने
कृत्वा दयां यदिह दर्शनमस्ति दत्तम्।
तद्वर्णितं ननु यथामति तत्र सन्त-
स्तुष्यन्तु तेऽपि च यथारुचि संरमन्ताम् ॥१४॥

जब मैं अत्यन्त दीन बना हुआ था तब भगवान् दुर्वासा ने दया करके जो दर्शन मुझे यहां दे दिया है उसीका ही तो यह वर्णन मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार कर दिया। इस पर सज्जन महानुभाव सन्तुष्ट हो जाएं और वे भी अपनी रुचि के अनुसार इससे आनन्दित होते रहें।

दुर्वाससो भगवतो वर्णनं पुण्यकारकम् ।
आचार्यपदमारूढो व्यधादमृतवाग्भवः ॥१५॥

आचार्यपद पर आरूढ श्री अमृतवाग्भव जी ने भगवान दुर्वासा के इस पुण्यकारक वर्णन का निर्माण किया ।

नन्देन्दुशून्याक्षिमिते गते वैक्रमवत्सरे ।
एकादश्यां शुचौ शुक्ले रचितं बुधवासरे ॥१६॥

इसकी रचना विक्रम संवत् २०१९ में आषाढ शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन बुधवार को की गई ।

कर्मणानेन भगवान् दुर्वासाः प्रीयतां मम ।
स्वकल्याणं साधयन्तु पठित्वेदं जना इह ॥१७॥

इस कर्म से भगवान् दुर्वासा मुझ पर प्रसन्न हो जाए और इसका पाठ कर करके भक्तजन अपने कल्याण को यहां सिद्ध कर लें ।

इति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-महामहिम-आचार्य-
श्रीमदमृतवाग्भवनिर्मितं
श्रीदेशिकदर्शनम् ॥

समस्त तन्त्रों में स्वतन्त्र महामहिमाशील आचार्य
श्रीमद् अमृतवाग्भव जी द्वारा यह
देशिकदर्शन निर्मित हुआ ।
इस के हिन्दी अनुवाद का निर्माण ग्रन्थकार के शिष्य
डा० बलजिन्नाथ पण्डित ने किया ।

आचार्य जी के प्रकाशित ग्रन्थः—

संख्या	ग्रन्थ	टीका आदि	मूल्य
१)	महानुभवशक्तिस्तोत्रम्	(संस्कृत-हिन्दी व्याख्या)	१—००
२)	श्रीपरशुरामस्तोत्रम्	(हिन्दी अनुवाद)	अमूल्य
३)	श्रीविंशतिकाशास्त्रम्	(संस्कृत-हिन्दी व्याख्याएं)	५—७५
४)	सप्तपदीहृदयम्	(संस्कृत व्याख्या, हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद)	१—५०
५)	सञ्जीवनीदर्शनम्	(संस्कृत हिन्दी, अंग्रेजी अनुवाद)	१—५०
६)	सङ्क्रान्तिपञ्चदशी	(हिन्दी गद्य-पद्य अनुवाद)	१—००
७)	परशिवप्रार्थना	(सिद्धमहामन्त्र) (हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद)	अमूल्य
८)	मन्दाक्रान्तास्तोत्रम्	(हिन्दी अनुवाद)	५—००
९)	श्रीआत्मविलासः	(सुन्दरी नामक हिन्दी व्याख्या आदि)	२०—००
१०)	श्रीसिद्धमहारहस्यम्	(हिन्दी, अनुवाद व्याख्या)	१०—००
११)	श्रीसिद्धमहारहस्यम्	(मूल मात्रम्)	१—५०
१२)	श्रीमदमृतसूक्तिपञ्चाशिका	(संस्कृत व्याख्या)	३—००
१३)	मन्दाक्रान्तास्तोत्रम्	(हिन्दी व्याख्या)	५—००
१४)	श्रीराष्ट्रालोकः	(हिन्दी अनुवाद)	१—५०

सभी पुस्तकें मिलने का पता—

श्री दुर्गादत्त शर्मा, ए-७२, अमृतपथ,

श्रीमद् अमृतवाग्भव शोध-संस्थान,
जनता कालोनी, जयपुर (राजस्थान)

श्रीपीठम्,

सिद्धदर्शनशोधसंस्थानम्, जम्मू ।

मुद्रक—एम० एम० मनोज्ञ प्रिंटिंग प्रेस, गली खिलोनेआं जम्मू-कश्मीर ।